

आधुनिक हिन्दी नाटक और उपन्यास में अभिव्यक्त
कलाकार की सृजनात्मकता : एक अनुशीलन
(ADHUNIK HINDI NATAK AUR UPANYAS MEIN
ABHIVYAKT KALAKAR KI SRIJANATMAKATA : EK
ANUSHEELAN)

Thesis Submitted to
Cochin University of Science and Technology
For the award of the degree of
Doctor of Philosophy

By
सुजिता कुमारी.जी.एस.
SUJITHA KUMARI G.S.

Prof. Dr. R. SASIDHARAN
Prof.& Head of the Department

Prof. Dr. P.A. SHEMIM ALIYAR
Supervising Teacher



DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN – 682022

December 2013

आधुनिक हिन्दी नाटक और उपन्यास में अभिव्यक्त

कलाकार की सृजनात्मकता : एक अनुशीलन

(ADHUNIK HINDI NATAK AUR UPANYAS MEIN ABHIVYAKT KALAKAR KI
SRIJANATMAKATA : EK ANUSHEELAN)

Ph. D Thesis

Author

Sujitha Kumari G.S.
Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Cochin- 682 022, Kerala, India
E-mail:sujithapadmakumar@gmail.com

Guide:

Dr. P.A. Shemim Aliyar
Professor (Rtd.)
Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Cochin- 682 022, Kerala, India

December 2013

Dr. P.A. Shemim Aliyar
Professor (Rtd)
Department of Hindi
Cochin University of Science & Technology
Kochi – 682 022

Certificate

This is to certify that the research work presented in the thesis entitled “**ADHUNIK HINDI NATAK AUR UPANYAS MEIN ABHIVYAKT KALAKAR KI SRIJANATMAKATA : EK ANUSHEELAN**” is an authentic record of research work carried out by **SUJITHA KUMARI G.S.** under my supervision at the Department of Hindi, Cochin University of Science & Technology, in partial fulfillment of the requirements for the degree of **DOCTOR OF PHILOSOPHY** in **HINDI** and that no part thereof has been included for the award of any other degrees.

Cochin - 22
19-12-2013

Dr. P.A. Shemim Aliyar
Supervising Guide

Declaration

#

I hereby declare that the thesis entitled “**ADHUNIK HINDI NATAK AUR UPANYAS MEIN ABHIVYAKT KALAKAR KI SRIJANATMAKATA: EK ANUSHEELAN**” is the bonafide record of the original work carried out by me under the supervision of **Dr. P. A. Shemim Aliyar**, Professor (Rtd.), at the Department of Hindi, Cochin University of Science & Technology, and no part has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree.

#

SUJITHA KUMARI G.S.
Department of Hindi
Cochin University of
Science & Technology
Kochi – 682 022

19-12-2013

#

आदरणीय माता,
श्रीमती सुजाता देवी
तथा पिता,
श्री गोपिनाथन नायर
को सादर समर्पित!



भूमिका

कला संस्कृति की संवाहिका है। हर एक समाज की सांस्कृतिक उन्नति एवं अवन्नति का परिचय उस समाज की कलाकृतियों से मिलता है। हमारी संस्कृति का झंडा फहराते हुए आगे चलने वाले कलाकार को हर युग में सत्ता या व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों द्वारा शोषण का शिकार होना पड़ा है। यह उनकी सृजनात्मकता में बाधा पहुँचाती है। कलाकार के जीवन की इन समस्याओं को समसामयिक अनुभवों के बल पर साहित्य की विविध विधाओं में अभिव्यक्त करने का प्रयास साहित्यकारों द्वारा हुआ है। जहाँ तक मेरी जानकारी है इस विषय पर केंद्रित शोधकार्य बहुत कम ही हुआ है। विषय की प्रासंगिकता और शोध क्षेत्र के इस अनछुए मुद्दे को ध्यान में रखकर मैंने अपना यह शोध विषय चुन लिया है। यह अध्ययन पाँच अध्यायों में विभक्त है। अंत में उपसंहार है।

पहला अध्याय –कलाकार के जीवन संदर्भ : विभिन्न आयाम। इस अध्याय में कला, कलाकार और उनकी सृजनात्मकता के उद्देश्य के विभिन्न मतों का विश्लेषण करते हुए परिवेश से उत्पन्न कलाकार की प्रेरणाओं और बाधाओं का सामान्य परिचय देने का प्रयास हुआ है।

दूसरा अध्याय –कलाकार की सृजनशीलता और राजनीति। राजनीति, भारत में राजनीति, कला और कलाकार से राजनीति का संबंध जैसे मुद्दों का परिचय देते हुए कलाकार के जीवन एवं उनकी सृजनात्मकता से राजनीति की टकराहट और इनके विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करने का प्रयास इस अध्याय में हुआ है।

तीसरा अध्याय –कलाकार की सृजनशीलता और धर्म। इस अध्याय में धर्म, कला, कलाकार और धर्म के संबंधों को पहचानते हुए कलाकार की सृजनात्मकता में धर्म का प्रभाव और इनसे उत्पन्न कलाकार की विविध प्रतिक्रियाओं की पहचान और परख की गई है।

चौथा अध्याय –कलाकार की सृजनशीलता और अर्थ। इस अध्याय में अर्थ, भारत में अर्थ व्यवस्था और आर्थिक परिवेश और कला, इन मुद्दों का परिचय देते हुए कलाकार की सृजनात्मकता में आर्थिक व्यवस्था का प्रहार एवं इनसे उत्पन्न कलाकार के विभिन्न संघर्षों का अध्ययन हुआ है।

पाँचवाँ अध्याय –कलाकार और रचनाकार की सृजनात्मक प्रेरणा : विविध आयाम। इस अध्याय में कलाकार के व्यक्तित्व एवं मानसिकता के विभिन्न पक्ष, कलाकार और रचनाकार के सृजन क्षण, सृजन प्रक्रिया तथा सृजन प्रेरणा आदि का परिचय दिया है। नाटकों और उपन्यासों में अभिव्यक्त कलाकार की विभिन्न सृजन प्रेरणाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास भी हुआ है।

उपसंहार में प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्षों का प्रतिपादन किया है।

इस अध्ययन के प्रस्तुतीकरण के लिए मैं अत्यंत कृतज्ञता-पूर्वक अपने निर्देशक पूजनीय गुरुवर्य प्रो. (डॉ.) पी.ए. शमीम अलियार की उपकृत हूँ। उनका निर्देशन एवं स्नेहपूर्ण सक्रिय सहयोग मेरी संपूर्ण शोध यात्रा का संबल रहा है। उनके विद्वत्तापूर्ण सुझावों और सहायता के सामने मैं नतमस्तक हूँ।

हिन्दी विभाग के अध्यक्ष परमपूज्य प्रो. (डॉ.) आर. शशिधरन जी के अमूल्य निर्देशन एवं प्रेरणा शोधकार्य के अथ से इति तक प्राप्त हुए हैं। उनके प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ।

मेरे इस शोध कार्य के विषय विशेषज्ञा डॉ. के. वनजा जी के मार्गनिर्देशन एवं प्रेरणा के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ।

हिन्दी परिवार के डॉ.एन मोहनन जी, डॉ. एम. षण्मुखन जी, डॉ एन.जी. देवकी जी और डॉ. के. अजिता जी, इन सभी विद्वतजनों ने मेरे इस शोध कार्य के लिए अमूल्य सहायता दी है। इन सभी के प्रति मैं तहे दिल से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

अपने प्रिय मित्रों के प्रति विशेष रूप से मैं कृतज्ञ हूँ, जो सदा मेरे हितैषी रहे हैं।

पुस्तकालय के अध्यक्ष अषरफ जी और सहायक बालकृष्णन जी के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करती हूँ, जिन्होंने आवश्यक ग्रंथ उपलब्ध कराके यह कार्य संपन्न करने की मदद की है। कार्यालयी सुविधाएँ प्रदान करके मेरी सहायता किए सभी कर्मचारियों के प्रति भी मैं कृतज्ञता अदा करती हूँ।

मेरे पति श्री पद्मकुमार ने आरंभ से अंत तक इस शोधकार्य के लिए जो मार्गदर्शन, सहयोग एवं प्रोत्साहन दिये हैं, इन्हें शब्दों से आँका नहीं जा सकता। मेरी लाडली बेटी मीनाक्षी, अनेक असुविधाएँ सहकर भी मेरा सहयोग किया है। इन दोनों के प्रति मैं अपना प्यार प्रकट करती हूँ।

इस कार्य की प्रस्तुति पर मुझसे अधिक प्रसन्नता मेरे माता-पिता को होगी। उनके तथा परिवार के सभी सदस्यों के अमूल्य स्नेह के सामने मैं नतमस्तक हूँ।

उन सभी प्रियजनों के प्रति भी मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षतः मेरा प्रोत्साहन किया है।

मैं यह शोध-प्रबंध विद्वानों के सामने सविनय प्रस्तुत कर रही हूँ। अनजाने आ गई कमियों एवं त्रुटियों के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

सविनय
सुजिता कुमारी.जी.एस.

विषयानुक्रमणिका

पहला अध्याय

कलाकार के जीवन संदर्भ : विभिन्न आयाम -----01 - 69

कला – कला : भारतीय दृष्टि - पाश्चात्य दृष्टि – कला का अर्थ –
कला की परिभाषा-कलाकार – कला और कलाकार, कला का
उद्देश्य : कला, कला के लिए या कला, जीवन के लिए – कलाकार
की सृजनात्मकता – कलाकार की सृजन मानसिकता – कलाकार
की सृजनात्मकता और परिवेश – कलाकार का सृजन संघर्ष-
विभिन्न आयाम - समाज - अर्थ - धर्म - राजनीति – निष्कर्ष

दूसरा अध्याय

कलाकार की सृजनशीलता और राजनीति----- 71 - 115

राजनीति-भारत में राजनीति-राजनीति और कला-राजनीति
और कलाकार-कलाकार की सृजनात्मकता और राजनीति -
कलाकार-शासक के रूप में - आदर्शवादी /प्रतिबद्ध कलाकार -
प्रतिशोधी कलाकार – सत्ता और कलाकार - स्वार्थ नीति एवं
भ्रष्टाचार - दमन नीति - राजनीति और धर्म –निष्कर्ष

तीसरा अध्याय

कलाकार की सृजनशीलता और धर्म -----117 -172

धर्म – धर्म : अर्थ और परिभाषा – धर्म और कला – धर्म और
कलाकार – कलाकार की सृजनात्मकता और धर्म- धर्म और
कलाकार का विद्रोह - धार्मिक अनैतिकता और बाह्याडंबर के
विरुद्ध विद्रोह - धर्म, जाति, वर्ण-भेद पर विद्रोह - धार्मिक
पाखण्ड एवं पागलपन पर विद्रोह -अंधविश्वास एवं छुआछूत के
प्रति विद्रोह – निष्कर्ष

चौथा अध्याय

कलाकार की सृजनशीलता और अर्थ-----173 - 219

अर्थ – आर्थिक परिवेश और कला – कलाकार की सृजनात्मकता
और अर्थ – आर्थिक संकट और सृजन संघर्ष : आधुनिक हिन्दी
नाटक और उपन्यास में - आर्थिक संकट से उत्पन्न अंदरूनी संघर्ष -
आर्थिक संकट से उपजे पारिवारिक संघर्ष - आर्थिक संकट से
उत्पन्न सामाजिक संघर्ष – आर्थिक संकट और कला में नैतिकता –
सामाजिक अर्थ-संकट और कलाकार – निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय

कलाकार और रचनाकार की सृजनात्मक

प्रेरणा : विविध आयाम -----221 - 254

कलाकार-व्यक्तित्व – कलाकार की मानसिकता – सृजन क्षण एवं
सृजन प्रक्रिया – सृजन प्रेरणा – नाटक और उपन्यास में अभिव्यक्त
सृजन प्रेरणा - प्रेम- नारी - अदम्य इच्छा- समर्पण -
जनवादी/सुधारवादी चेतना-निष्कर्ष

उपसंहार -----255 - 263

संदर्भ ग्रंथ-सूची-----265 - 287

परिशिष्ट-----289

पहला अध्याय

कलाकार के जीवन संदर्भ : विभिन्न आयाम



कला

किसी भी देश, वर्ग, जाति या समाज के उत्तम और उज्ज्वल सांस्कृतिक उत्थान की धरोहर एवं उसके आदर्शों की वाहिका है, कला। संस्कृति किसी राष्ट्र की चेतना होती है। अतः 'कला' उस चेतना की 'आत्मा' होती है। कला विहीन जीवन मृत्यु के समान है। जीवन और कला परस्पर पूरक रहने के कारण कला से प्रत्यक्ष तात्पर्य और सापेक्षता न रखने वाले व्यक्ति का जीवन अपूर्ण ही रहेगा। आदिकाल से ही जीवन को बनाये रखना, सुन्दरता पूरक सामूहिक जीवन निर्वाह करना स्वयं कला का कार्य रहा है। कला का संबंध मनुष्य की रचनाशीलता से है, जो उसकी मूल प्रवृत्ति है। प्रागैतिहासिक काल से हम अपने पूर्वजों को सदैव सृजन शील पाते आये हैं। "कला और क्रांति का खात्मा अंतिम मानव के साथ ही होगा।"¹—अल्बर्ट कामू के इस कथन से यह व्यक्त होता है कि – सभी मानव मन में एक कला हृदय छिपा रहता है, बिना कला वासना का कोई भी मानव यहाँ जन्म नहीं लेता है। कला, संगीत और साहित्य से हीन मनुष्य पशु समान है।

कला : भारतीय दृष्टि

भारत में कला की साधना बहुत पुरानी है। यहाँ समस्त कलाओं का अत्यंत उत्कृष्ट इतिहास हज़ारों वर्षों से मिलता है। 'कला' शब्द का सर्वप्रथम

¹ Art and rebellion will die only with the last man, Albert Camus, The Rebel, p : 303

प्रयोग ऋग्वेद में होता है – “यथा कला यथा शफं यथा ऋणं संनयामसि।”¹ उपनिषदों में भी ‘कला’ शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है। चंदोग्योपनिषद में कहा गया है, ‘प्राचीदिक कला। दक्षिणदिक कला। उदीची दिक कला। एवं सौम्य! चतुष्कलः पादो ब्राह्मणः प्रकाशवान्नाम स य एतमेव विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्राह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिन् लोके भवति। प्रकाशवतो हि लोकाज्जयति। य एनमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्राह्मण प्रकाशवानित्युपास्ते।”² ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रंथों में ‘कला’ शब्द के प्राचीन प्रयोग मिलते हैं। किंतु ‘कला’ शब्द उस अर्थ में नहीं आता था, जिस अर्थ में आज हम इसका प्रयोग कर रहे हैं। कला का जो अर्थ अब प्रचलित है, उसका द्योतक शब्द ‘शिल्प’ था।

भारत में कलाओं का इतिहास तो बहुत प्राचीन है, किंतु उनके वर्गीकरण बाद में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि – भरतमुनि ने कलाओं का वर्गीकरण मुख्य और गौण रूप में किया है। उनकी मान्यता है कि नाट्यकला के संबंध में अन्य कलाएँ गौण हैं, क्योंकि नाट्यकला में अन्य कलाओं का उचित समावेश हो जाता है। नाट्यकला को वे प्रधान रूप से उपयोगिनी कला ही मानते थे। क्योंकि नाट्यकला, नैतिक उपदेश देने

¹ विश्वबंधु (सं), ऋग्वेद, पृ : 2777

² श्री सयानाचार्य, चंदोग्योपनिषद्-दीपिका, पृ : 140-141

वाली, वेदना, पीडा तथा मानसिक थकान से आकुल व्यक्तियों को शांतिदायिनी तथा यश, पुण्य एवं दीर्घायु प्रदायिनी मानी जाती है। कला का आधुनिक अर्थ में प्रयोग,

“न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेवन्म्या कृतम्॥”¹

जैसे नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम भरतमुनि ने किया था। अर्थात् जो इस नाट्य में न मिले ऐसा न तो कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और न ही कोई हो सकता है। इस नाट्य में सभी शास्त्रों, सभी प्रकार के शिल्पों और विविध प्रकार के (अनेक) कार्यों का सन्निवेश रहता है। इसलिए मैं ने इस नाट्य की रचना की है।²

भारतीय परंपरा में काव्य की गणना कला रूप में नहीं की गई थी। वात्स्यायन ने ‘कामसूत्र’ में चौसठ कलाओं का उल्लेख किया है, किंतु काव्य का नहीं। क्षेमेन्द्र ने अपनी पुस्तक ‘कलाविलास’ में सर्वाधिक कलाओं के नाम गिनाए हैं इनमें काव्य समस्या पूरण आदि की चर्चा भी है। वास्तव में काव्य समस्या पूरण आदि उक्ति-वैचित्र्य के ही द्योतक थे। वे वस्तुतः

¹ भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, प्रथमोध्याय(नाट्य स्वरूप), पृ : 1, 113, 114

² बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, नाट्य शास्त्र, पृ : 28

मनोविनोद के साधन थे। संभवतः इसलिए काव्य की परिगणना कला रूप में नहीं हुई थी।

भारतीय परंपरा में कलाओं की अपेक्षा विद्याओं का विशेष महत्व रहा है। परंपरा से चौदह विद्याएँ मानी गई हैं। चार वेद, छह अंग और चार शास्त्र (मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र) ये चौदह विद्याएँ हैं। राजशेखर ने काव्य को पंद्रहवीं विद्या के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार काव्य चौदहों विद्याओं का एकमात्र आधार है। उन्होंने काव्य को विद्या रूप में और कलाओं को उपविद्या के रूप में निरूपित कर दोनों को एक दूसरे से पृथक सिद्ध कर दिया है।

राजशेखर से पूर्व दंडी ने भी चौसठ कलाओं का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार काव्य में कलाओं का प्रयोग कलाओं के मतानुसार ही करना चाहिए। भामह ने भी कवि के ज्ञातव्य विषयों में कला की गणना की है और काव्य के विषय-संबंधी विभाग में वस्तु के चार भेद माने हैं, जिनमें कलाश्रित भी है। उनकी दृष्टि में काव्य और कला दोनों के पृथक-पृथक रूप हैं।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार चौसठ की संख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में साधारणतः वे ही कलाएँ रही होंगी जो वात्स्यायन की सूची में हैं। कला का साधारण अर्थ उसमें स्त्री प्रसाधन और वशीकरण है और उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति। उसमें काव्य का भी स्थान था। वह

काव्य को कला मानने के पक्ष में है। काव्य को कला मानने से काव्य की किसी रूप में क्षति नहीं होती, वरन कला का अर्थ ही विस्तृत हो जाता है।¹

कला : पाश्चात्य दृष्टि

यूनान के प्लेटो, अरस्तु जैसे कुछचिंतकों ने सर्वप्रथम कला संबंधी अपना विचार व्यक्त किया है। वहाँ कला की परिभाषा दो बिन्दुओं पर आधारित है। एक अनुकरण सिद्धांत, दूसरा सौन्दर्य। प्लेटो कला को केवल प्रकृति की प्रतिकृति न मानकर उसे प्रकृति का बिम्ब-प्रतिबिम्ब मानते हैं। “प्रकृति या सृष्टि उसकी अनुकृति या प्रतिरूप है। कलाकार और कवि का प्रेरक तत्व जीवन और प्रकृति है जो ईश्वर ने वास्तविक सत्य के अनुरूप बनाई है। अतः कवि और कलाकार की रचना सत्य से तिहरे आवरण में है – तिगुनी दूरी पर है।”² उनके अनुसार प्रतीक व्यंजना ही कला है। अरस्तु कला का स्पष्ट नाम न लेकर काव्य, नाटक, संगीत आदि को अनुकरण मानते हैं। उनके अनुसार कला प्रकृतिजन्य होकर भी, प्रकृति की अपूर्णताओं को पूरा करने वाला है। उन्हीं के शब्दों में “प्रत्येक कला का उद्देश्य प्रकृति की अपूर्णता को पूरा करना होता है।”³ अतः कला प्रकृति का अनुकरण है, तो भावनामय अनुकरण ही है, कोरी नकल नहीं। कला संबंधी विचार यूनान और रोम होते हुए यूरोप आयी और वहाँ सदियों तक इनसे सम्बंधित ग्रंथ

¹ डॉ वेद प्रकाश जुनेजा, भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र, पृ : 88

² And so, if the tragic poet is an imitator, he too is thrice removed from truth and so are all other imitators. Plato, Dialogues of Plato, Vol.II, p. 470-471

³ Every art aims at filling out what nature leaves undone, Aristotle, Politics IV, p : 17

लिखे गए। लेकिन यह अनुकरण सिद्धांत 19 वीं सदी तक कला संबंधी एकमात्र परिभाषा के रूप में विश्व में प्रतिष्ठित रहा। उन्नीसवीं सदी में टॉलस्टॉय ने 'व्याट इज़ आर्ट' ग्रंथ लिखकर इस परिभाषा में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। "कला उस मानवीय क्रिया का नाम है जिसके द्वारा एक व्यक्ति बाह्य संकेतों के माध्यम से स्वानुभूत भावों का दूसरे व्यक्तियों के प्रति इस तरह संप्रेषण करता है कि – वे भी उन भावों के संक्रामक प्रभाव को ग्रहण कर उनका यथावत अनुभव करते हैं।"¹ उनके अनुसार भावना या अनुभूति का संक्रमण भी कला का उद्देश्य है। उसकी यह परिभाषा 'इन्फैक्शन थ्योरी' के नाम से जानी जाती है। इसके बाद क्रोचे ने अभिव्यक्ति सिद्धांत (एक्सप्रेसनिज्म) का प्रतिपादन किया। कला अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इस परिभाषा का प्रचार-प्रसार सामान्य रूप से अधिक व्यापक न हुआ।

हर्बर्ट स्पेन्सर कला को मानव की अतिरिक्त शक्ति के अथवा फालतू उमंग के प्रसार और खेल की प्रवृत्ति का फल मानते हैं। रस्किन प्रत्येक महान कला को ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति मानते हैं अर्थात् ईश्वर की कृति सृष्टि को देखकर मानव के हृदय में जो आह्लादमय अनुभूति होती है, कला उसी का व्यक्तिकरण है।

¹Art is a human activity, consisting in this, that one man consciously, by means of certain external signs, hands on to others feeling he has lived through, and that other people are infected by these feelings, and also experience them. Aylmer Maude (tr), What is Art by Leo Tolstoy, p : 50

पाश्चात्य कला जगत में विगत दो शताब्दियों में चार विचारकों ने कला संबंधी अपनी नई मान्यताएं स्थापित कर वैचारिक क्षेत्र में सर्वाधिक गहरा प्रभाव डाला है। इनमें से एक राजनीतिक समाजशास्त्री था – कार्ल मार्क्स, दूसरा मनोविक्षेपणवादी – फ्रायड – बाद में साहित्यिक मनीषी – क्रोचे और इलियट। इन चारों ने साहित्यिक जगत पर कला संबंधी अपने अपने अमुख विचार छोड़े हैं। स्पष्ट है कि इनके अभाव में पाश्चात्य कला जगत में कला संबंधी विचार अपूर्ण ही रहेगा।

मार्क्स के अनुसार कलाकार की चेतना सामाजिक जीवन की ही देन होती है। सामाजिक जीवन आर्थिक बिन्दु पर केंद्रित होता है। इसलिए कला की मूल प्रेरणा आर्थिक स्थिति ही प्रदान करती है। समाज में दो वर्ग होते हैं – शोषक और शोषित। शोषक वर्ग की कला शोषणात्मक होती है और शोषितों की कला विद्रोहात्मक। इसी कारण इन दोनों वर्गों के कला रूप परस्पर नितान्त भिन्न रहते हैं। उनके अनुसार सच्ची और यथार्थ पर आधारित कला भावनाओं का परिष्कार कर उन्हें उदात्त बनाती है। भावनाओं का यह उदात्तीकरण जन-कल्याण का प्रेरक बनता है। इसी कारण मार्क्स भावनाओं के इस उदात्तीकरण के निमित्त को ही कला का अस्तित्व स्वीकार करता है। जो कला इस कार्य को करने में असमर्थ रहकर मानसिक विकास और शोषण की साधन बनती है, मार्क्स उसका घोर विरोध करता है। अर्थात् मार्क्स जन-कल्याण की भावना को विकसित

करना ही कला का एक मात्र प्रधान लक्ष्य मानता है। उसके अनुसार ऐसा करने में असमर्थ कला विकृतियों को ही बढ़ावा देती है।¹

फ्रायडियन विचार में मानव, कला के माध्यम से अपनी अतृप्त और दमित वासनाओं को अभिव्यक्त करता है। कला उसकी इन वासनाओं को उदात्त रूप में प्रस्तुत करती है। मानव के अवचेतन मन की प्रवृत्तियों के मूल में उसकी अतृप्त वासना या यौन-प्रवृत्ति रहती है यही फ्रायड का मत है। कला सृजन द्वारा अवचेतन की प्रवृत्तियाँ ही प्रायः प्रकाश में आती हैं और उनकी कलात्मक वासना तृप्त होती है। कलाओं द्वारा दूषित मनोवृत्तियों का समुन्नयन होता है, जैसा कि हमारी जिन वृत्तियों के प्रकट हो जाने पर समाज में हमारा चरित्र अशुद्ध समझा जाता है, वे ही वृत्तियाँ जब कला के आवरण से आवृत्त होकर ऐसे सुन्दर रूप में आती हैं कि उनका प्रकटीकरण शिष्टता और शालीनता का उल्लंघन नहीं प्रतीत होता है। अजन्ता, एल्लोरा की नग्न मूर्तियाँ इन्हीं दूषित मनोवृत्तियों के समुन्नत रूप हैं। फ्रायड के इस कला सिद्धांत का विश्वव्यापी व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। इसने यथार्थ के नाम पर कला-क्षेत्र में अश्लीलता, विकृति और अस्पष्टता को बढ़ावा दिया है।

कला के संबंध में क्रोचे एक प्रकार से अरस्तु के 'अनुकृतिवाद' के मनोवैज्ञानिक पक्ष की विकसित दशा को प्रस्तुत करता है। इसमें मानव मन की अविकसित अवस्था विस्मय या कौतुहल की प्रेरणा से अनुकरणीय मानी

¹ डॉ. वेद प्रकाश जुनेजा, भारतीय एवं पाश्चात्य सौन्दर्य शास्त्र, पृ : 94

गई है। यह अवस्था एक सतत् चेतन-प्रगति से विकास की विशेषताओं को एकत्र कर, आकर्षण और जिज्ञासा की प्रेरणा से स्वभावतः अभिव्यक्तिशील मानी गई है, यही क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' है। क्रोचे मुख्य रूप से अभिव्यंजना को ही सौन्दर्य मानता है। मन अमूर्त होता है, इसलिए मन द्वारा प्रेरित अभिव्यंजना भी मन के ही समान अमूर्त और सूक्ष्म होती है। इस प्रकार मूर्त तथा अमूर्त अभिव्यंजना ही कला है, यहीं क्रोचे का मत है।

इलियट साहित्य और कला की कसौटी धर्म को न मानकर नीति को मानता है। इसीलिए वह धार्मिक या भक्ति प्रधान साहित्य या कला को कम महत्व देता है। उनके अनुसार धर्म, नीति का स्रोत है। वह संस्कृति को संपूर्ण समाज के जीवन के जीने का ढंग मानता हुआ संस्कृति के निर्माण में कला का महत्वपूर्ण योग स्वीकार करता है। परंपरा का संस्कृति से घनिष्ठ संबंध मानते हुए वह 'आत्मनिष्ठ कला' का विरोध कर 'वस्तुनिष्ठ कला' को ही महत्व देता है। इस विचार के आधार पर वह कला को 'निर्वैयक्तिक' घोषित करता है। उनके अनुसार कलाभिव्यक्ति कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति न होकर, व्यक्तित्व से पलायन है। वह केवल अभिव्यक्ति पर बल देता है, प्रयोजन पर नहीं। अर्थात् निष्प्रयोजन सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही कला का माध्यम होना चाहिए।

कला संबंधी भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण से गुज़रते हुए हम यह जान सकते हैं कि भारत में कला संबंधी मान्यताएं एवं दृष्टिकोण बहुत

अधिक प्राचीन हैं। आज इसका अध्ययन एवं विवेचन प्रमुखतः पाश्चात्य प्रभाव में सीमित रहते हैं।

कला का अर्थ

भारतीय परंपरा के अनुसार 'कला' शब्द की सिद्धि 'कल' धातु से हुई है; जिसका अर्थ 'शब्दसंख्यान्वयों' अर्थात् शब्द करना और गिनना होता है। पाश्चात्य दृष्टिकोण में 'आर्ट' शब्द के साथ जो सौन्दर्य बोध लगा हुआ है, वह अत्याधुनिक अर्थ विस्तार है। 'आर्ट' शब्द प्राचीन लैटिन के 'आर्स' (Ars) शब्द से बना है, जिसका ग्रीक रूपांतर है - ΤΕΧΝΗ। इस शब्द का प्राचीन अर्थ साधारण शिल्प (क्रेफ्ट) अथवा नैपुण्य विशेष है, जैसे स्वर्णकारी, सर्जरी इत्यादि। अतः प्राचीन ग्रीक और रोमन भाषा के 'आर्ट' शब्द में केवल शिल्प बोध था, उसमें काव्य कला प्रभृति ललित कलाओं को समावेशित करने की अर्थगरिमा नहीं थी। अब भी काव्य शास्त्रियों एवं सौन्दर्य शास्त्रियों के समक्ष यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि कब और कैसे 'आर्ट' शब्द में यह अभिनव अर्थगम हुआ।¹

कला की परिभाषा

कला क्या है? इस प्रश्न का सीधा स्पष्ट उत्तर देना अत्यंत कठिन है। कला की अनेकों परिभाषाएं बनीं और बिगड़ी, परंतु कोई निश्चितपरिभाषा

¹ कुमार विमल, कला विवेचन, पृ : 25

आज भी दृष्टि में नहीं आती। कला अनिर्वचनीय है। कला तत्व, भाषा के बंधनों से मुक्त है। इसका संवेदन देखने और सुनने में ही निहित होते हैं। कला भिन्न-भिन्न मानव में भिन्न-भिन्न रूप से अभिभूत होकर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होते हैं। विख्यात आलोचक जैसे – इम्मानुवेल कान्ट, हेगल, टॉलस्टॉय के वर्षों की कठिन उपासना से लिखे बृहत् ग्रंथों में भी कला की उचित परिभाषा देने में वे असफल निकले।

कला की परिभाषा अनिर्वचनीय है, तो भी इसकी कुछ व्याख्याएँ इसके उद्देश्य को स्पष्ट करेगी। कला सम-भाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है। कला की इस उद्देश्य शुद्धि को हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत ने सरल रूप में व्याख्या की है कि – जीवन के सारल्य से मनुष्य को मिलाकर कला उसे सबसे मिला देती है।

कला मानव की एक चेष्टा है। बाह्य जगत की प्रेरणाओं से उद्भूत मानव मन में निहित वासनाओं का बहिर्गमन 'कला रूप' में प्रकट होते हैं। इसीलिए ही यह कहा जाता है – कला अपने समय के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति है। किसी भी कलाकृति में उस युग के परिवेश और प्रेरणाओं के प्रति प्रतिक्रिया भरी रहती है।

कला युग-युगों से मानव समाज में अज्ञान रूपी अंधकार को हटाकर पुनर्जागरण का दीपक फैलाए हुए अपनी अद्भुत शक्ति प्रकट कर रही है।

अर्थात् कला मानव समाज में सभी तटस्थ विचारों को पीछे छोड़कर आगे की ओर बढ़ाने के रास्ते में ज्योति बनकर सजग रहती है। अतः कला वास्तविक उन्नति का आधार है।

कला मानव मन को उत्तेजित करती है। पं. जगन्नाथप्रसाद मिश्र के अनुसार – “आर्ट में धूमकेतु की तरह गतिवेग होगा, जो हमारे जीवन को गतिशील बनाने की प्रेरणा देगा; उसमें होगी शक्ति की प्रचुरता जो हमें मन की दुर्बलता को जीतने में सहायता पहुँचायेगी। वह अग्निशिक्षा की तरह ज्योतिर्मय एवं पहाड़ी सरिता की तरह वेगवान होगा। वह हमारे अन्दर को उदार एवं व्यापक बना देगा और जीवन की समस्त जड़ता, शिथिलता एवं अवसाद को दूर करके उसमें उन्मादता एवं तेजस्विता भर देगा। उसमें होगी प्रकाण्ड शक्ति, प्रचण्ड दीप्ति और दुर्निवार गतिवेग।”¹

जो भी हो कला को किसी एक परिभाषा में बाँध लेना बहुत कठिन है। क्योंकि कला जैसी एक बहु आयामी क्रिया को केवल एकायामी पक्ष में बाँध लेने से उसके अन्य पक्षों की ओर अंधी होने का व्यवहार ही खूब प्रकट होगा। कला के बहुवैशिष्ट्य से कोई एक प्राण-भूत तत्व का मूल तत्व देखने का प्रयास सफल न होगा। यह तो कला की समृद्धि, पृथकता, सभी पर मुँह मोड़ने की तरह होगा। ऐसी हालत में कला को एक परिभाषा में सीमित करने के अलावा उसे स्वतंत्र भाव तत्वों से देखना उचित होगा।

¹ पं. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, साहित्य समीक्षाञ्जली, पृ : 29

कलाकार

‘कलाकार’ शब्द मनुष्य का बनाया हुआ है; जो कला का कार्य करता है। वह लगभग सामान्य व्यक्तियों से पृथक् रहता है। उनकी संवेदनाएँ तीव्र एवं अनुभूतियाँ तीष्ण होती हैं और उसका जीवन असामान्य होता है। शायद यही उसे ‘कलाकार’ शब्द से तादात्म्य कराने वाले कार्य होंगे। विचार और व्यवहार में सामान्य से अलग रहने वाले ये लोग बहुमत अपनी ओर के सांसारिक सुख-भोग की चमकों में नहीं फँसते हैं। समाज उसका कैसे मूल्य निर्धारण करेगा या किस दृष्टि में देखेगा इस बात पर वह चिंतित नहीं है। सृष्टि करना वह अपना लक्ष्य और दायित्व समझता है। इसके सिवा और किसी कार्य के लिए एक सच्चे कलाकार के मन में अधिकांश प्रभाव डालना बहुत मुश्किल है। कलाकार के संबंध में रोमां रोला का यह कथन महत्वपूर्ण है कि कलाकार स्रष्टा है – वह सृष्टि के बीज बिखेरता चलता है। उसका काम सिर्फ बोना है। फल का विचार या विचार का बीज उगाना न तो उसके लिए संभव है और न उसका काम भी।

कलाकार का जीवन साधना का जीवन है। वे अक्सर दूसरों के जीने में अपने जीने को सार्थक समझता है, दूसरों के अस्तित्व की रक्षा और उसकी अभिवृद्धि ही वह अपनी सफलता मानता है। दिये की भाँति जलकर वह दूसरों को प्रकाश देता है। जीवन-भर व्यथा में तपकर वह जो अर्जित करता है, उसे अपनी रचना में ढालकर, पूरे जगत के लिए समर्पित करता है।

जीवन और जगत के समस्त विष को वह अपनी साधना के बल पर अमृत बनाता है। इस तरह के श्रेष्ठ कार्य करके ही एक कलाकार सच्चे एवं संपूर्ण कलाकार का पद पा सकते हैं।

समाज के अंग होते हुए भी समाज के दायरे से ऊपर उठकर समाज का निरीक्षण कर सकने की क्षमता कलाकार में होती है। वह काल के पीछे नहीं आगे चलता है प्रसिद्ध साहित्यकार प्रेमचंद की राय में – “साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है - उसका दर्जा इतना न गिराए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।”¹ इस तरह आगे चलकर वह सारे समाज को सीधे बढने के लिए रास्ता दिखाता है।

कला और कलाकार, कला का उद्देश्य : कला, कला के लिए या कला जीवन के लिए

जगत एक सृष्टि है तो ईश्वर इसके स्रष्टा है। यहीं से कला और कलाकार का संबंध शुरू होता है। आज के इस भूमण्डलीकरण के युग में कला और कलाकार समाज के लिए इतना अभिन्न और अनिवार्य अंग है जितना एक वटवृक्ष के लिए अपनी जड़ें। समाज के एक सचेत एवं जागृत प्राणी है कलाकार। वह अपने समाज की संस्कृति से इतना जुड़ा रहता है,

¹ प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ : 20

यह उसकी रचनाओं में प्रस्फुटित होते हैं। एक समाज की सांस्कृतिक उन्नति एवं अवन्नति का परिचय हमें उस समाज की कलाकृतियों में देखने को मिलते हैं। यह समाज हरेक प्राणी को जागरूक कर अच्छे और बुरे का ज्ञान प्रदान कर पुनर्जीवन देता है। इसलिए ही कला को उस समाज की सांस्कृतिक जड़ों का विशेष देकर विश्लेषणकरते हैं। कला और कलाकार के सामाजिक दायित्व के संबंध में पं.जगन्नाथमिश्र का भी साभिप्राय है – “सबसे बड़ा आर्टिस्ट वही है जिसकी प्राण-वीणा में महामानव के अन्तर का स्पन्दन जाग्रत होता है। जिसमें प्रकाशित होती है विपुल-जीवन की कल्लोल ध्वनि। जो कोटि-कोटि, श्रृङ्गलित, उत्पीडित, शोषित नर-नारियों की आशा आकांक्षाओं का प्रतीक होता है; जो भाव रूपी अग्निस्फुलिंगों द्वारा जाति के अज्ञानतिमिर को ध्वंस कर देता है और जिसके कंठ से निनादित होता है स्वाधीनता एवं साम्य का जयगान।”¹

कलाकार शांति और भाईचारा का संदेशवाही होता है, यह सही है, ताकि मानवता की प्रगति के लिए इन दोनों तत्व नितान्त आवश्यक हैं। ऐसे मनोभाव से वे अपनी कला द्वारा लोगों को खतरों से सावधान कराते हैं। कलाकार का सामाजिक दायित्व उसकी कला में निर्भर रहता है। कला में कलाकार के सारे विचार विक्षेप भरे रहते हैं। इसलिए समाज के प्रति ईमानदार कलाकार की रचना से परिचित होना हमारे लिए अनिवार्य कार्य

¹ पं. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, साहित्य समीक्षाञ्जली, पृ : 29

होना चाहिए। यह कला हमारे जीवन में कैसे उपयोगी होगा, यह हमारे उत्तरदायित्व में निर्भर है। इसका विश्लेषण एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करें – कलाकार उस जीव के समान है, जो सीप या धोंधे में था उसकी कला उस धोंधे तथा सीप के समान है। अर्थात् जिस प्रकार धोंधा या सीप पानी के जन्तुओं का बाहरी रूप है, उसी प्रकार है कलाकार की कला। जिस प्रकार सीप तथा धोंधे का जीव मरकर अपना अवशेष छोड़ जाता है, उसी प्रकार कलाकार की रचना भी। कलाकार के जीवन का एक बाहरी रूप है कला। रचना के बाद कलाकार, कला से स्वतंत्र होता है। फिर कला का अपना अस्तित्व और पहचान होता है। यह उसका काम नहीं कि – वह लोगों को बताये कि उसकी रचना का क्या उपयोग है। स्वयं कलाकार यह नहीं जानता है और जानने का प्रयत्न भी न करता है। यह तो समाज का काम है कि – उन चित्रों का क्या उपयोग है समझे और उसका उपयोग करे। उस रचना को देखकर या उसका अध्ययन कर हम जान सकते हैं कि अमुक कलाकार ने किस प्रकार का जीवन निर्वाह किया। कलाकार समाज का नेता होता है, पथ प्रदर्शक होता है। इसलिए उसके जीवन के तरीकों को समझकर हम अपना जीवन उन्हीं आधारों पर व्यतीत कर सकते हैं और आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं।

कला का कार्य समाजोन्मुखी है, लेकिन कुछ कलाकार कला को स्वांतः सुखाय ही मानते हैं। उनके अनुसार कला से उत्पन्न आनंद मात्र अपने लिए है।

कला और सामाजिक जीवन नामक कृति में जार्जी प्लेखनोव ऐसा कहते हैं कि – कला कला के लिए में विश्वास वहीं पैदा होता है जहाँ कलाकार अपने सामाजिक पर्यावरण के साथ संगति नहीं बिठा पाता। समाज की सेवा उनका लक्ष्य भी नहीं है। वे समाज से हटकर रहते हैं। अपने परिवेश के प्रश्नों और परिवर्तनों में वे नज़र भी नहीं डालते हैं। ऐसे लोग वास्तविक जगत से भिन्न होकर एक कल्पना जगत में जीना और इस कल्पना जगत में रहकर अतिभावुकता पूर्ण रचनाओं के सृजन में मग्न रहते हैं। सृजनात्मकता की मायापुरी में कल्पना के रंगीन पंखों पर उड़ते हुए सौन्दर्य की माला गूँथना उनकी विशेषता है। इस प्रकार वास्तविक परिवेश से भिन्न रहने के कारण उनकी रचना में ही इस जगत के यथार्थ चित्रण देखने को नहीं मिलते है। बल्कि वे कला द्वारा अभिजात श्रेणी के तरुणातरुणियों के दुर्बल प्रेम की हास्यमयी लीलाओं का सुन्दर सुकुमार चित्रण करना अथवा अलस रुग्ण मन की कल्पना प्रसूत सौन्दर्य विलासता को रूप देने में सजग रहते है।

कला, कला के लिए मानने वालों के मन में सच्चे कलाकार वह है जो कला की सृष्टि कला के लिए ही करता है और उसे किसी का साधन बनाना अभीष्ट नहीं समझता। कला का ध्येय आनंद है और वह नैतिक, धार्मिक आदि मूल्यों से सर्वथा तटस्थ रहती है। कला का संसार अपने में पूर्ण और स्वतंत्र संसार है और वहाँ किन्हीं अन्य मूल्यों का समावेश नहीं।¹

¹ डॉ. रविन्द्र सहाय वर्मा, पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ : 22

साधारणतः एक व्यक्ति को अपना परिवेश ही इस सिद्धांत की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देता है। परिवेश की विषम परिस्थितियों जैसे आर्थिक कठिनाइयाँ, बेकारी, युद्ध आदि की विभीषिका से त्रस्त होकर कलाकार कला की रमणीय दुनिया में मुक्त रहना चाहते हैं। कलाकार अपने अहं के खोखले में बंद होकर विशुद्ध सौन्दर्य के काल्पनिक संसार की सृष्टि करने में संलग्न रहते हैं। वे स्वयं समय के प्रति कोई कर्तव्य या उत्तरदायित्व न समझते हैं। वह अपने स्वप्न संसार में यथार्थ से संबंध विच्छेदकर रहने में आनंद का अनुभव करता है। मनीषी रोम्यां रोला तो भी सृजन को आनंद का माध्यम मानते हैं। उनकी राय में सृजन मनुष्य को शरीर की कैद से मुक्त करता है और जीवन को तूफानी लहरों में धकेलकर उसे देवता बनाता है, क्योंकि सर्जक एक ऐसा शिल्पी है जिसके सामने सर्वभक्षी कला ने भी सदा हार मानी है।¹

कला, कला के लिए सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले विचारकों ने साहित्य में आचरण संबंधी मूल्यों का सर्वथा बहिष्कार किया है। विक्टर कज़िन, गोतियो, फ्लाबेयर, बोदलेयर, जे.के.हिज़मेन, वर्लेन आदि साहित्यकारों द्वारा जो लहर फ़्रांस में 19 वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में प्रवाहित हुई वह समस्त यूरोप को आप्लावित करती हुई इंग्लैण्ड में हिवसलर, पेटर, वाइल्ड, आदि पर अपना प्रभाव छोड़ती गयी। इन

¹ विष्णु प्रभाकर, कलाकार का सत्य, पृ : 25

सिद्धांतवादियों ने कला का निराचार (amoral) घोषित किया और उसे जीवन और जगत से तटस्थ रखने का नारा लगाया। लेकिन उनके हाथ में कला निराचार तो न रह सकी, किंतु वह अनाचार (immorality) की पोषण कर्ता अवश्य बन गयी। फ्रांसीसी विचारक 'गोटिये' भी अपने कला विषय सिद्धांत में निराचार की अपेक्षा अनाचार का ही प्रचार करता गया। वह कहता है - "मुझे कोई नगर उसके सुन्दर भवनों के कारण ही प्रिय लगता है। ---- मुझे यह चिंता नहीं कि - वहाँ के निवासी अत्यंत पतित है अथवा वह नगर अपराध का स्थल है जब तक कि इन भवनों को देखते समय मेरा कोई वध नहीं करता।"¹

जब हिवसलर कला, कला के लिए सिद्धांत को उसकी जन्मभूमि फ्रांस से इंग्लैण्ड तक लाये तब वहाँ रस्किन इस बात का प्रचार कर रहा था कि - कला का धर्म कलाकार की स्वयं तुष्टि न होकर लोकसेवा है। हिवसलर ने इससे उत्तेजित होकर कला में उपदेश का कड़ा विरोध किया तथा कला, कला के लिए सिद्धांत की पुष्टि की। उनकी राय में कला द्वारा जिस आनंद की अनुभूति होती है वही कला का एकमात्र ध्वेय है। कला अथवा साहित्य को उपदेश का अस्त्र बनाना कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। कलात्मक प्रक्रिया स्वयं अपने में ध्वेय होती है और वह किसी अन्य का

¹A town interests me merely for its buildings ---- Let the inhabitants be utterly vile and the town a haunt of crime, what does that signify to me, so long as I am not assassinated while looking at the buildings, Theophile Gautier, As quoted by F.L. Lucas, Literature and Psychology, p : 227

आश्रय नहीं खोजती। आस्कर वाइल्ड ने भी इसी सिद्धांत को ऊँचे उठाकर यह प्रस्तावना प्रकट की- “किसी भी कलाकार में नैतिक समवेदनाएँ नहीं होती। उसमें नैतिक समवेदना का होना अक्षम्य है।”¹वाइल्ड का समस्त जीवन अप्राकृतिक था, जिसके कारण उसे समाज की दृष्टि में घृणा का पात्र बनना पड़ा और उसे अन्ततः अत्यंत दयनीय स्थिति में अपने जीवन के अंतिम दिन बिताने पड़े।

प्रसिद्ध विचारक क्लाडव बेल ने भी अपनी पुस्तक ‘आर्ट’ (Art) में साहित्य में किसी आचरण अथवा सामाजिक मूल्यों को अस्वीकार किया है। वे तो साहित्य और जीवन के संबंध की धारणा को ही निर्मूल सिद्ध करते जान पड़ते हैं। वे कहते हैं कि - “किसी भी कलाकृति को पसन्द करने के लिए हमें जीवन से कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं; उसके लिए जीवन संबंधी घटनाओं, भावनाओं आदि की जानकारी अनिवार्य नहीं।”²सर निकोलस प्रथम के समय के प्रसिद्ध कवि पुश्किन ने कवि के प्रकार्य के बारे में अपने दृष्टिकोण को अति-उद्भूत कुछ पंक्तियों में लिपिबद्ध किया है -

¹No artist has ethical sympathies. As ethical sympathy in an artist is an unpardonable mannerism of style. Oscar Wilde, The Picture of Dorian Gray, Preface.

²To appreciate a work of art, we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions. Clive Bell, Art, accessed <http://www.gutenberg.org/files/16917/16917-h/16917-h.htm>

“नहीं सांसारिक आन्दोलन के लिए नहीं,
न सांसारिक लोभ और न सांसारिक संघर्ष के लिए
बल्कि मधुर गीतों के लिए, प्रेरणा के लिए
प्रार्थना के लिए कवि का जन्म होता है।

यहाँ कला, कला के लिए के तथाकथित सिद्धांत का बेहद प्रभावशाली
ढंग से प्रतिपादन किया है।¹

इस कला, कला के लिए सिद्धांत का पाश्चात्य प्रभाव बंगाल से होता
हुआ हिन्दी में आया। बंगाल में रविन्द्र नाथ ठाकुर ने इस धारा को अंशतः
स्वीकार किया था कि – शुद्ध कला, नैतिकता के सिद्धांतों द्वारा परिचालित
नहीं होती किंतु साथ में उन्होंने यह भी कहा – अन्ततः शिव और सुन्दर
दोनों का स्वतः तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

हिन्दी में इलाचन्द्र जोशी पर रविन्द्र नाथ ठाकुर का गहरा प्रभाव पड़ा
और उन्होंने कला, कला के लिए सिद्धांत को बहुत कुछ उसके विशुद्ध स्वरूप
में स्वीकार किया। ‘साहित्य सर्जना’ में जोशी जी ने अपने कला संबंधी
विचार इस प्रकार प्रकट किये – विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी
आनंद का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति तत्व अथवा शिक्षा का स्थान
नहीं। उसके अलौकिक माया – चक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की

¹ जार्जी प्लेखनोव, कला और सामाजिक जीवन, पृ: 19

झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मंदिर को कलुषित करना है।”¹ पर यहाँ ज़ोर देने की बात यह है कि जोशी जी ने कला, कला के लिए सिद्धांत को इसके विशुद्ध स्वरूप में ही स्वीकार किया था। इस स्वरूप में अशुद्धता या कृत्रिमता लाने में वे सहमत नहीं थे। जब इस सिद्धांत को ऐसे कुरूप उद्देश्य के लिए उपयोग करने लगे तब उन्होंने इसकी तीखी प्रतिक्रिया भी प्रकट की।

प्रसिद्ध कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला कला में उपदेश और आदर्श को स्थान देने में सहमत नहीं है। यथार्थ का चित्रण करना ही वे कवि का लक्ष्य समझते हैं। वे कहते हैं कि – “सूक्तियाँ, उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमज़ोरी मानता हूँ।”² आज इस ज़माने में कला, कला के लिए का मत उतना ही विचित्र है जितना संपत्ति, संपत्ति के लिए और विज्ञान, विज्ञान के लिए इत्यादि। सभी मानवीय क्रियाओं का लाभ मानवता की सेवा के लिए होना चाहिए वरना वह व्यर्थ और निष्क्रिय धंधे बनकर रह जाएगी। जिस प्रकार धन का अस्तित्व मनुष्य के लाभ के लिए है, विज्ञान का अस्तित्व मनुष्य के दिशा निर्देश के लिए है उसी प्रकार कला भी किसी उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होनी चाहिए। जिस प्रकार ख़ास व्यक्तियों राजनीतिक आंदोलनों,

¹ इलाचन्द्र जोशी, साहित्य सर्जना, पृ : 15

² निराला, प्रबंध प्रतिमा, पृ : 284

धार्मिक उपदेशों, वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रौद्योगिक उपलब्धियों के द्वारा समाज को प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करते हैं, उसी तरह कलाकार को भी अपनी कला के द्वारा समाज के सांस्कृतिक उत्थान के लिए प्रयास करना चाहिए, न कि निष्फल और निरर्थक आनंद की। कला स्वयं में एक लक्ष्य है, इसे किसी बाहरी लक्ष्य की प्राप्ति का साधन बनाना, जो कितना ही महान क्यों न हो, कला कृति की गरिमा को नीचे गिराना है। प्रसिद्ध आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने भी कला को इस दर्जा का माना है। उनके अनुसार “कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है और वही सब कुछ है। यदि हम मनोरंजन को ही काव्य का उद्देश्य मानेंगे तो काव्य की गणना मनुष्य का मनोरंजन करने वाले निम्न साधनों में की जाएगी। यह किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता कि – तुलसी अथवा वाल्मीकी ने काव्य रचना केवल मनोरंजन के लिए और फिर बिना किसी गंभीर उद्देश्य से की।”¹

कला, कला के लिए मानने वाला समाज उनके स्वतंत्र अस्तित्व की बात कर रहा है। इस स्वतंत्र अस्तित्व की बात ही ‘जीवन से पृथक करके देखना’ होता है। कला सामाजिक अभिरुचि का एक अंग है। समाज कलाकार के लिए नहीं बना है, बल्कि कलाकार समाज के लिए बना है। अलौकिक आनंद का भ्रम कला को लेकर उन मनीषियों ने अधिक उठाया ,

¹ डॉ रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि, भाग 1, पृ: 162-163

जो जीवन के यथार्थ को विस्मृति के प्रकोष्ठों तक पहुँचाकर, कल्पना प्रद अलौकिक आनंद की संज्ञा देते हैं।

समाज शास्त्रीय दृष्टि से कला अहम् और 'इद्ग' की क्रिया-प्रतिक्रिया के विनिमय से निर्मित व्यक्ति के उस 'स्व' की अभिव्यक्ति है, जो समष्टि को अर्पित होती है। कला व्यक्ति और समाज के बीच अहम् और इद्ग के बीच तथा एक ओर अनेक के बीच पुल का काम करती है। कला, कलाकार के लिए सामाजिक दायित्व चुकाने का एक माध्यम होना चाहिए जो समाज की एक इकाई होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति के कंधों पर विन्यस्त है।

प्रसिद्ध साहित्यकार प्रेमचंद ने कला और साहित्य को 'जीवन की आलोचना'¹ माना है। जब साहित्य का जीवन से लगाव होता है तब वह कल्पनातीत हो जाता है। यानी कला का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है, पर इसमें जीवन की वास्तविकता होनी चाहिए। साहित्य में जीवन के श्रृंगार पक्ष के साथ-साथ इसकी तीव्र एवं कटु वास्तविकताओं या यथार्थ का भी चित्रण अवश्यंभावी है। जीवन के खुली अनुभव के साथ कल्पना के संयोग से एक उत्कृष्ट कलासृजन जन्म लेता है। "जिस साहित्य से हमारी सुरुची न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न

¹ प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, पृ: 10

उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहने का अधिकारी नहीं।”¹

सच्ची कला का उद्देश्य यथार्थ में अंतर्भूत भविष्य को ग्रहण कर पाना और उसे अभिव्यक्ति दे पाना है। इसलिए कला की प्रतिबद्धता भी साधारणतः वास्तविक जीवन या जगत से होगी। प्रतिबद्धता की बात अपनी कला के संदर्भ में न सोचकर जीवन उसके यथार्थ के संबंध में सोचकर मोहन राकेश ने यह प्रस्ताव किया है – “मैं अपनी कला से प्रतिबद्ध हूँ, क्योंकि अपने परिवेश और उसके निरंतर बदलते यथार्थ से प्रतिबद्ध हूँ। जीवन से हटकर अपने अकेलेपन में प्रतिबद्धता मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखती।”²

कला मानव व सत्य के बीच की कड़ी है। यथार्थ कला में जीवन की प्रतिच्छाया देखने को मिलता है। अतएव कला का जन्म, विकास और उद्देश्य जीवन अर्थात् समाज में ही है। उससे परे उसके अस्तित्व की कल्पना ही निरर्थक है। कला और साहित्य ऐसा होना चाहिए जो समाज को सत् की ओर प्रेरित करें तथा असत् से विमुख करें, जो समाज के दोषों को दूर करने में तथा व्यक्ति के चरित्र निर्माण में सहायक हो सके और यदि वह किसी इच्छा को लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त होगा तो उसका परिणाम ‘कला’ न होकर कुछ और होगा।

¹ प्रेमचंद, कुछ विचार, पृ : 9

² मोहन राकेश, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि, पृ : 73

कलाकार की सृजनात्मकता

सृजनात्मकता मानव की एक विशेषता है, जो विशेष रूप से उनपर ही न निर्भर है जिन्हें हम 'कलाकार' कहते हैं; जो सभी मानव में लीन एक विशेषता है, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों एवं परिवेशों से उत्पन्न मानसिक संवेदनाओं से ऊर्जा समाकर प्रत्येक मानव में विभिन्न प्रकार से प्रकट होती है। अतएव सभी मानव में किसी भी कलाकृति में उज्वल होने की शक्ति निहित है।

सृजनात्मकता मानव की यह योग्यता है, जिसके द्वारा वह कोई नवीन विचार प्रस्तुत करता है। पहले से विद्यमान वस्तुओं तथा तत्वों को मिलाकर नए योग बनाना, सृजनात्मकता का सार है। यानी - 'सृजनात्मकता समस्याओं, कठिनाइयों, ज्ञान के बीच अंतरालों, अप्राप्त तत्वों, विस्वरताओं इत्यादि के प्रति संवेदन शील होने, कठिनाई को पहचानने, समाधानों को ढूंढने, अटकल लगाने या फिर कमियों के प्रति परिकल्पनाओं को निर्मित करने, उन परिकल्पनाओं का परीक्षण और पुनः परीक्षण करने, अंत में परिणाम सूचित करने की प्रक्रिया है।'¹

सृजनात्मकता के संबंध में तालस्ताय का विचार इस प्रकार है कि जो कुछ अस्पष्ट और धूमिल था उसे अपने तथा अन्यो के लिए स्पष्ट और निश्चित बनाने का प्रयास वह स्रोत है जिससे मनुष्य की सामान्य

¹ एस.एन. त्रिपाठी, प्रतिभा और सृजनात्मकता, पृ : 29

आध्यात्मिक सक्रियता के उत्पादन प्रभावित होते हैं या वे वस्तुएं निकलती हैं जिन्हें हम कलाकृतियाँ कहते हैं— जो मनुष्य क्षितिज को विस्तीर्ण करती हैं और अदृष्ट पूर्ण वस्तुओं को देखने को विवश करती हैं।¹

अतः सृजनात्मकता का कार्य अव्यक्त वस्तुओं को व्यक्तता देना, अपूर्णता को पूर्णता देना, कठिन तत्वों को सरल बनाना, अज्ञान रूपी अंधकार में ज्ञान रूपी प्रकाश फैलाना इत्यादि होता है। सृजनात्मकता के समय कवि का हृदय अपनी असाधारण प्रतिभा का सहारा लेकर पर्वत शिखर के समान फूट पड़ता है। वह निर्झर के समान झिर-झिर प्रवाहित होता हुआ जन-जन रंजन करता है, श्रम-लय मानव के मन की तृष्णा शांत करता है। जिस प्रकार राजमार्ग के किनारे लगे पत्थर से मानव अपनी मंजिल की दूरी जान लेती है, उसी प्रकार महान कला-कृतियों के तट पर बैठकर मानव युग-युग की मंजिलें देख लेता है। मानव निर्दिष्ट पथ प्राप्त करने के निमित्त उनसे सहारा ग्रहण करता है।

कलाकार की सृजन मानसिकता

कलाकार सामान्य व्यक्तियों से अधिक संवेदनशील प्राणी है। वह अपनी संवेदनाओं की अंतरंगता को कला-सृजन द्वारा अभिव्यक्त करता है। अतः इन संवेदनाओं से वह सृजन की ऊर्जा उत्पादित करता है, जो कभी सूखता नहीं, काल खण्डों को लाँघती हुई बहती चली जाती है। उनके लिए

¹ इन्दुकांत शुक्ल(रूपांतरकार), कला क्या है: तालस्ताय, पृ: 80

ताज़ा विषयों की राह कभी बंद नहीं होती। जब तक दुनिया है, तब तक नई-नई रचनाशीलता की संभावनाएँ बनी रहेंगी। अपनी संवेदना को विस्तृत बनाना एक सच्चे कलाकार का लक्षण है। उसका हृदय एक ऐसा आइना होना चाहिए, जिसपर हर पीड़ा और वेदना की तस्वीर उतरती है। संवेदना की तीव्रता जिस कलाकार में जितनी अधिक होगी उतना ही वह प्रभावकारी होगा। आदिकवि वाल्मीकी की रचना का भी यही इतिहास है। क्रौंच द्वंद्व के वियोग से उत्पन्न शोक के परिणाम स्वरूप उनके मुँह से 'मा निषादः' श्लोक फूट निकला था। 'शोक से श्लोक' का यही इतिहास है। मानव हृदय जब असाधारण पीड़ा से कराह उठता है तब उसकी वेदना भरी वाणी ही काव्य का सर्जन करती है। पंत जी के अनुसार –

“वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान
निकलकर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान”¹

अतः कलाकार के सृजन का स्रोत उनकी अपनी वेदना है, पीड़ा है, आह है, कराह है और मधुर भावनाओं में डूबी अतीत की स्मृति होती है।

किसी सर्जक के आंतरिक व्यक्तित्व को जानने का विशेष उपयोगी माध्यम है उसकी रचनाएँ। उसकी कृतियाँ ही मानो एक दर्पण है, जिसमें

¹ सुमित्रानन्दन पंत, पल्लव, पृ: 13

कवि का अंतस् प्रतिबिंबित होता है। साहित्यकार अज्ञेय का भी यही विचार है – “सर्जनशील प्रतिभा का धर्म है कि – वह व्यक्तित्व ओढती है। सृष्टियाँ जितनी भिन्न होती हैं स्रष्टा उससे कुछ कम विशिष्ट नहीं होते, बल्कि उनके व्यक्तित्व की विशिष्टताएँ ही उनकी रचना में प्रतिबिंबित होती हैं।”¹

महाकवि वर्ड्सवर्थ ने काव्य रचना की मानसिकता को इस प्रकार चित्रित किया है – “पहले कवि को किसी वस्तु का इंद्रिय बोध होता है। बाद में वस्तु के अप्रत्यक्ष होने पर, शांति के क्षणों में वह उस भाव पर विचार करेगा जो, वस्तु को देखने पर उसके मन में जगा था। विचार करने पर धीरे-धीरे उस मूल भाव जैसा भाव कलाकार के मन में जागृत होगा। कवि इसी को व्यक्त करता है और कविता का जन्म होता है।”² यानी तीव्रानुभूति के क्षण में प्रकृति के सामान्य पदार्थों में भी कलाकार को आध्यात्मिक तत्व के दर्शन होते हैं। तब वे सुन्दर काव्य रचना करते हैं।

सृजन-प्रक्रिया हरेक कलाकार के लिए तरह तरह की अनुभूतियाँ पैदा करती हैं। भूख और प्यास की तरह अपनी आंतरिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए कुछ लोग सृजन कार्य में कार्यरत होते हैं। परिवेश से प्राप्त प्रेरणा को किसी न किसी रूप में सृजन द्वारा प्रस्फुटित करने के बाद ही वह विश्राम लेता है। उनके लिए सृजन कार्य प्रसव पीड़ा जैसा है। हाँ यह तो

¹ डॉ. दुर्गाप्रसाद ओझा, अज्ञेय, व्यक्तित्व विकास, पृ: 28

² डॉ. शांति स्वरूप गुप्त, पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धांत, पृ: 126

ठीक है – हरेक रचना उस रचनाकार की संतान है। उतनी व्यथा और संघर्ष से तड़पने पर ही रचना, रचनाकार के मानस रूपी कोख से बाहर निकलती है। इसका एक मिसाल देखे –

“मेरा हर क्षण व्यस्त है। इन व्यस्तताओं के बावजूद मैं लिखती हूँ। केवल इसलिए कि – लिखना मेरे जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना साँस लेना। कुछ दिन बिना लिखे बीत जाए तो मन उखड़ा उखड़ा लगता है। अकारण क्रोध आता है, झुंझलाहट होती है। जैसे सिगरेट पीने वाले को दिन भर सिगरेट न मिले तो वह मन्द आलस से भर उठता है, काम करने की स्फूर्ति जाती रहती है। न लिखने से वैसा ही आलस्य मुझे भी घेर लेता है।”¹

परिवेश से प्राप्त वस्तु की प्रेरणा कलाकार को हर क्षण सताती रहती है। हरेक क्षण यह पूर्ण रूप में विकसित होकर बाहर आने के लिए लालायित होता है। जब तक यह संभव न होती है तब तक वह अपने कर्ता के मन में अशांति पैदा करते रहते है। “कोई घटना, कोई विचार या कोई परिस्थिति कब मन को छू जाती है, कह पाना कठिन है। उस घटना विशेष का चित्र कभी-कभी चेतन और उपचेतन मन पर बन जाता है। कई बार यह चित्र घंटों, दिनों मन को सालता रहता है। मन में अशांति के बादल

¹ रजनी पनिकर, जानोदय – अक्टूबर 1968, पृ : 99

उमड़ते रहते हैं, एकत्रित होते रहते हैं, बरसने के लिए उतावले होते हैं। उस समय लिखना अनिवार्य हो जाता है।”¹

रचना प्रक्रिया का संबंध अंतःचेतना से है। इसे जानने के लिए सृजन कर्ता के भीतर में उतरने की ज़रूरत है। उन क्षणों एवं स्थितियों को स्मरण करने तथा उन बारीकियों को पकड़ने की आवश्यकता है, जिनके दौरान उनकी रचनाओं का जन्म हुआ है और हो रहा है। यह उस रहस्यमय प्रक्रिया की खोज है जो स्थूल रूप में कहीं नहीं दिखती, जो सर्जक की व्यक्तिगत चीज़ होकर भी अगम्य, अबूझ बनी रहती है और एक क्षण विशेष में किसी अज्ञात शक्ति के तहत रचनाओं के सृजन में लग जाती है। निःसन्देह ही कहना होगा कि इस सृजन प्रक्रिया का विश्लेषणकरना अत्यंत मुश्किल है। यातना और पीड़ा भरी इस प्रक्रिया कलाकार के लिए अपनी तरफ का आनंद भी होता है। एक प्रकार कहें तो चरम यातना और परम आनंद ही सृजन प्रक्रिया के स्थायी भाव होता है। इसीलिए सृजन के दौरान कृतिकारों को एक ही साथ कष्ट और आनंद दोनों का अनुभव होता है। भयंकर पीड़ा, जानलेवा बेचैनी, इसके बाद अपार खुशी एवं स्वर्गीय आनंद ---- क्या कहें इसका विवरण असाध्य है।

अपने जीवन यथार्थ से उत्पन्न निसहायता एवं असहिष्णुता से ही कलाकार का मन सृजन के लिए व्याकुल होता है। “मेरी नंगी छोटी बच्ची

¹ रजनी पनिकर, ज्ञानोदय – अक्टूबर 1968, पृ : 100

जब मुझ से जाँधिये की माँग करती है और मैं अपनी जेब खाली पाता हूँ, मेरी कहानियाँ तभी जन्म लेती हैं। निर्भीक होकर सही बोलने के आरोप में जब कोई साहब अपने चपरासी से गर्दनिया दिलवाकर मुझे ऑफिस से बाहर खदेड़ देते हैं, तब मैं अपमानित होकर अपने घर लौटता हूँ। अपमान बोध से बुरी तरह ग्रसित मैं रात भर सो नहीं पाता हूँ। मेरी कहानियाँ, उसी रात जन्म लेती हैं। पत्नी की माँगों को नज़रअंदाज़ करते, बच्चों की आवश्यकता इच्छाओं का हनन करते, रोज़गार दफ्तर से लौटते छोटे भाइयों के चेहरों की निराशा को पढ़ते मैं सुबह को शाम में बदल देता हूँ। फिर बाबूजी की मृत्यु से लेकर अपनी छोटी बच्ची की मृत्यु तक के यातनादायी सिलसिले मेरी आँखों के सामने गुज़रने लगते हैं, बस तभी मेरी कलम दनादन कहानियाँ उगलने लगती हैं।¹

शायद हर कलाकार ने अपना सृजन, जीवन से प्रतिशोधात्मक रूप में शुरू किया होगा – शोषण अन्याय और सर्वग्रासी भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ने के लिए। इन विरोधी अवस्थाओं से कुछ क्षण का पलायन होगा उनका सृजन।

रचना प्रक्रिया कलाकार की एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। सृजन प्रक्रिया में व्याप्त व्यक्ति माने कलाकार कभी-कभी एक सामान्य व्यक्ति से हटकर न्यूरोटिक भी हो जाते हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि कलाकार

¹ मिथिलेश्वर, बाबूजी (कहानी), भूमिका

सामान्यतः एक साधारण व्यक्ति से पृथक रहते हैं। उनके मन में सृजन के लिए आंतरिक द्वंद्व चलते रहते हैं तब परिवेश उनके लिए कोई बाधा नहीं प्रतीत होता है। कलाकार कभी कभी सृजन की अभिलाषा में मदोन्मत्त होकर भौतिक जगत से बिछुड़कर रहता है। इस अव्यवहार से अपरिचित साधारण व्यक्ति इसे न्यूरोटिक की संज्ञा देता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड भी कलाकार को एक सामान्य तथा न्यूरोटिक व्यक्ति मानते हैं। कलाकार साधारण सामाजिक समूह से पृथक हो जाता है, किन्तु हमेशा न्यूरोटिक नहीं होता। प्रत्युत वह अपनी इस मानसिकता का संतुलन 'सृजनात्मकता' द्वारा कायम करता है। प्रसिद्ध मलयालम साहित्यकार 'वैक्कम मुहम्मद बशीर' ऐसी मानसिक प्रवृत्ति के लिए एक मिसाल है। इस तरह अनेक कलाकार हैं, जो अपने जीवन में कभी कभी उन्माद में फँस जाते हैं। अज्ञेय ने 'अपने अपने अजनबी' में ऐसी वस्तुस्थिति का इस्तेमाल किया है कि- "उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है।"¹ एक तरफ कहा जाये तो यह उन्माद ही उन्हें सृजनात्मक प्रतिभा बनाते हैं और इस सृजनात्मकता ही उन्हें पूर्ण उन्माद से बचाते हैं। फ्रायड कहते हैं - "कलाकार प्रकृति से मनस्तापी होता है, लेकिन उदात्तीकरण की सबल क्षमता द्वारा वह पूर्णतः मनस्तापी नहीं बन जाता है।"²

¹ अज्ञेय, अपने अपने अजनबी, पृ : 64

² देवेन्द्र शर्मा (अनु), मनोविक्षेपण और साहित्यालोचन : के. अहमद, , पृ : 11

जब एक व्यक्ति स्वप्न देखता है तब उसे ऐसा नहीं लगता कि – वह स्वयं उस स्वप्न का रचयिता है, बल्कि वह अनुभव करता है कि –स्वप्न उसके मानस के किसी अन्य भाग से, जो उनके अहं के अंतर्गत नहीं है, उत्पन्न होकर सामने आता है। कभी कभी अधूरेस्वप्न देखने पर जब आँख खुलती है, व्यक्ति सोचता है 'पता नहीं इसका अंत किस प्रकार होता'। यदि उसका चेतन मन रचयिता होता है तो वह अंत भी बता सकता है। ठीक ऐसी बात कवियों, कलाकारों के साथ भी होती है, कभी कविता सोच विचार कर परिश्रम करके लिखी जाती है, और कभी कभी अपने आप ही लिख जाती है। कॉलरिज की अनुपम किन्तु अधूरी कविता 'कुबला खां' इस प्रकार का एक अनोखा मिसाल है। कॉलरिज की तबीयत ठीक नहीं थी और वह अफीम खाने के बाद कुर्सी पर सो रहे थे। इसके पहले वह कुबला खां के बाटे में पढ़ रहे थे कि – कैसे कुबला खां ने एक शानदार महल और बगीचा बनवाया और दस मील की उपजाऊ ज़मीन के चारों ओर एक दीवार उठवाई। नींद में उन्होंने उसी महल और बगीचे का स्वप्न देखा। करीब तीन घंटे बाद जागने पर उन्होंने तुरंत कलम उठा ली और लिखना शुरू किया ताकि जो स्वप्न में देखा था भूल न जाए। इसी बीच एक मिलने वाला आ गया। करीब एक घंटे बाद वह गया, कवि ने फिर से लिखना चाहा, किंतु जो दृश्य स्वप्न में देखे थे वे विलीन हो गए थे, फिर इसे प्राप्त न हुआ। कविता अधूरी रह गयी। ऐसा लगता है कि जिस मन ने 'कुबला खां' कविता का सृजन किया था वह साधारण चेतन मन

के अंतर्गत नहीं था, बल्कि इसके परे किसी अन्य स्तर पर वह कार्य कर रहा था। अतः कला स्वतः एकाएक निर्मित हो जाते हैं। यदि विश्लेषण किया जाए तो इन के पीछे कवि के स्वयं के कुछ अनुभव होते हैं, अतीत के भूले हुए चित्र एवं वर्तमान के अनुभवों का एक मिश्रण सा होता है।

अनेक कलाकारों का ऐसा अनुभव हुए है कि – अपने आप कला का स्रोत एकाएक मानस पटल पर आ जाता है और सृजन अपने आप हो जाता है। इस प्रकार का एक रोचक अनुभव चित्रकार एल्बर्ट पी. राइडर का भी है। वह एक रहस्यवादी चित्रकार थे। एक संगीत नाटक (ओपेरा) देखने के बाद ही उसकी प्रेरणा से उनके मन में एक चित्र का उदय हुआ जिसे उन्होंने तुरंत अंकित करने का प्रयास किया। यह चित्र ' सीगफ्रेड और राइन मेडेन्स', देखने वाले को एक रहस्यमय स्वप्न लोक में ले जाते हैं। रात का दृश्य है, चाँदनी के धीमे प्रकाश में सीगफ्रेड घोड़े पर सवार करके आ रहा है। बादल, पेड़, छोटा पहाड़ी रास्ता और युवतियाँ सभी मिलकर चित्र को एक अजीब सा वातावरण प्रदान करते हैं। इस चित्र को पूरा करने के लिए राइडर निद्रा और भोजन त्यागकर 48 घंटे निरंतर कार्य करता रहा। कला त्याग और तपस्या का प्रतिक है – यही इससे महसूस होता है।

सृजन क्षण और सृजन प्रेरणा हरेक कलाकार के लिए भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रसिद्ध संगीतज्ञ मोजार्ट ने संगीत रचना के अपने अनुभव ऐसा प्रकट किया है कि भोजन के बाद घूमते जाते हुए कैसे अपने आप संगीत के विचार

आने लगते हैं और रचनाएँ होती जाती हैं। इनका आकार बढ़ता जाता है और संपूर्ण रचना प्रस्फुटित हो जाती है। उनका कहना है कि – इस समय यदि इन्हें लिख न लिया जाए तो इनके विलीन हो जाने का डर रहता है।¹

कुछ कलाकारों में सर्जन के लिए एक विशेष प्रकार के मानसिक तनाव की आवश्यकता होती है। तभी वह अपनी सर्वोत्तम कृतियों की रचना कर सकता है। सुखद और दुःखद दोनों प्रकार की भावनाएँ कलात्मक कृतियों को जन्म देती हैं। शायद दुःख का संबंध सर्जन से अधिक गहरा है। दुःख को कम करने के लिए व्यक्ति सर्जन करता है, जिससे मानसिक उद्विग्नता को शांति मिलती है। कभी कभी सर्जन कार्य में स्नेही व्यक्ति का प्रभाव भी प्रेरणा बन जाते हैं। फ्रायड के जीवन में ऐसे सर्जन की एक रोचक घटना है। प्रारंभ में उनकी मित्रता विल्हेल्म फिल्स से थी। एक दिन वह उनसे मिलने गए और इस मुलाकात का इतना प्रभाव उनपर पड़ा कि लौटते समय उन्होंने रेल में ही लेखन कार्य प्रारंभ कर दिया और लेख का पहला भाग ट्रेन में ही समाप्त कर दिया।

कलाकार की मनोवृत्ति अंतर्मुखी होती है और उसे रुग्णतान्त्रिक होने में बहुत देर नहीं लगती। वह ऐसा व्यक्ति है जो सहज एवं सबल आवश्यकताओं से प्रेरित होता है, वह सम्मान, शक्ति, संपत्ति, यश और नारी प्रेम प्राप्त करना चाहता है, किंतु इन परितुष्टियों की प्राप्ति के साधनों से

¹ सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, प्रतिभा और सृजनात्मकता, पृ: 98

वंचित भी होते हैं। इस अवसर पर वह इन आवश्यकताओं को मन में दमित करके जीते हैं। लेकिन इन आवश्यकताओं की स्फूर्ति वह अनजाने अपनी रचनाओं में प्रकट करते हैं। इस तरह देखे तो कलाकार के मन के दमित विचारों की स्फूर्ति ही कला बन जाते हैं। मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने भी इस अवस्था का विचार मंथन करके कहा था कि – “समस्त कला सृजन के मूल में कलाकार की दमित और कुंठित काम वृत्तियों की सत्ता होती है। ये वृत्तियाँ विविध प्रकार की बाह्य जिज्ञासाओं के कारण कलाकार के अवचेतन अथवा अचेतन मन में दबी पड़ी रहती हैं, और अवसर आने पर उसकी कला द्वारा अपने निकास का मार्ग खोज लेती हैं। व्यक्ति के जीवन की प्रेरणाओं का उद्गम व्यक्ति की अवचेतन में दबी इन्हीं दमित एवं कुंठित काम वृत्तियों की सत्ता वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में होती है। अपनी जिन इच्छाओं की वह समाज के भय से तथा अन्य वर्जनाओं के कारण अभिव्यक्त नहीं कर पाता, वे सब उसके अवचेतन अथवा अचेतन मन में एकत्र होती रहती हैं और इस प्रकार विविध मानसिक रोगों तथा विकृतियों को जन्म देती हैं।”¹

सर्जन का संबंध कभी कभी सर्जक के शारीरिक एवं मानसिक स्थिति के अनुसार होते हैं और कभी बाह्य परिस्थितियों से भी होते हैं। कुछ व्यक्ति अपने सर्जन कार्य किसी विशेष परिस्थिति में ही कर पाते हैं। उदाहरण के लिए कहे तो – जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक इममानुवेल कांट, जब लिखते

¹ डॉ शशि शर्मा, समकालीन हिन्दी कविता, अज्ञेय और मुक्तिबोध, पृ : 21

बैठता, तो खिड़की से बाहर एक मीनार को देखता जाता था। इससे विचारों को एकाग्र करने में उन्हें मदद मिलती थी। एक बार पेड़ों के बढ़ जाने के कारण वह मीनार छिप गई। अधिकारियों ने कांट के अनुरोध से पेड़ को कटवा दिया।¹ कुछ कलाकार घुमक्कड़ व्यक्तित्व का होता है। घूमते-फिरने में सर्जन के लिए नए विचार उन्हें मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होते हैं कि – जब व्यक्ति कोई रचना कर रहा है, उस समय उनके मस्तिष्क की एक विशेष स्थिति रहती है, जैसे मन की एकाग्रता, विचारों के तीव्र गति का प्रवाह इत्यादि। इस स्थिति के संबंध किसी अन्य उद्धीपन से, जो अक्सर ऐसी स्थिति में उपस्थित रहता है, हो जाता है। आगे इस उद्धीपन की उपस्थिति उस मानसिक स्थिति को लाने में सहायक हो सकती है, जो विचारों के सर्जन के लिए अनुकूल होती है।

व्यक्ति अथवा कलाकार कुछ विशेष परिस्थितियों को सर्जन के कार्य के लिए अनुकूल बनाता है। भावनाओं का सर्जन से गहरा संबंध है। प्रेरणा के क्षण दुर्लभ होते हैं और इन्हें खोना नहीं चाहिए।

कलाकार की सृजनात्मकता और परिवेश

कलाकृति एक बच्चा है, कलाकार उसकी माँ और परिवेश उसके पिता होते हैं। कलाकार अपने परिवेश से सृजन की ऊर्जा भरते हैं। वह अपने आवेग को अनुभव की भट्टी में तापकर उसे खरा सोना बनाते हैं।

¹ सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, प्रतिभा और सर्जनात्मकता, पृ : 100

परिवेश और सृजनात्मकता या कला परस्पर संबंधित रहते हैं। परिवेश से प्रभावित होकर विशिष्ट रचनाओं का सृजन होता है तो कभी कभी इस रचना से प्रभावित होकर परिवेश को भी एक विशिष्ट दिशा मिल जाती है। प्रेमचंद ने भी परिवेश और सृजन के संबंध को स्वीकारा है, “साहित्यकार अपने देश काल से प्रभावित होता है, जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए अविचलित रहना संभव नहीं होता है।”¹ जो कलाकार परिवेश से अलग होकर अपने भावना जगत में रहकर सृजन कार्य करते हैं, इनका रचना मात्र स्वप्नों की फैक्ट्री में उपजा साहित्य होता है। वही वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होता पर इसका निषेध न कर सकता कि – “रचना के मूल में रचनाकार की अनुभूति ही रहती है। किंतु परिवेश के साथ गहरी एवं आत्मीय संबद्धता उसकी रचना को ईमानदार और प्रामाणिक बनाती है। परिवेश की जानकारी रचना को ठोस आधार देती है। काडवेल की राय में “कला का मोती समाज की सीपी से ही उद्भूत होता है।”²

युग युग की घटनाओं, युग की विचारधाराओं का जो प्रभाव कलाकृतियों पर पड़ता है, उससे कोई इनकार नहीं सकता। परंतु कलाकार के निजी व्यक्तित्व की भी एक महत्ता होती है। सच तो यह है कि – अपने

¹ प्रेमचंद, हँस, अप्रैल 1932, पृ : 40

² Art is the product of Society as the pearl is the product of the oyster and to stand outside art is to stand inside the society.” Christopher Candwell, Illusion and Reality introduction, p : 19

व्यक्तित्व में कुछ विशेष रखने के कारण ही वह कलाकार होता है। फिर युग भी व्यक्ति को प्रभावित करके ही कला पर प्रभाव दिखला सकता है। युग के प्रति किसी विशेष व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया क्या होगी, इसका अनुमान कर लेना सहज नहीं है। युग सामान्यतः साधारण व्यक्तियों को प्रभावित करता है, लेकिन विशेष व्यक्तियों से प्रभावित भी होता है। ऐसे कम कलाकारों में एक है हिन्दी साहित्य के अग्रगण्य प्रतिभा सुमित्रानन्दन पंत। पंत जी केवल ऐसे व्यक्तियों में ही नहीं है, जो युग के शक्तिमान प्रवृत्तियों के प्रति निजी प्रतिक्रिया रखते हैं, बल्कि उनमें भी है, जो युग को प्रभावित करते हैं। जिस युग में पंत जी ने अपनी रचनाएँ की हैं, उसे समालोचकों ने छायावाद का युग कहा है।

कला अपने समय के साथ बदलती रहती है। प्राचीन काल में भारत का परिवेश धर्म प्रधान था। तब कला का विषय मूलतः धर्म केंद्रित हुआ। फिर यहाँ की परिस्थिति राज्यतंत्र प्रधान हुआ तो कला की विषयवस्तु राजा महाराजा के कार्य कलाप तक सीमित हो गयी। मुग़ल एवं अंग्रेज़ी जैसे विदेशी शासन से दमित परिवेश में कला का विषय विद्रोह एवं क्रांति उत्पन्न करने वाले विषय बने और आज़ादी के बाद जब व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना पनपी तो कला की विषयवस्तु स्वयं कलाकार का व्यक्तित्व हो गया। जैसी समाज होता है वैसी ही कला होती है, इसमें शक की गुंजाईश नहीं।

कलाकार का सृजन-संघर्ष – विभिन्न आयाम

सृजन एक संकीर्ण कार्य है, जो देवता का वरदान है। सृजन से उत्पन्न अनुभूतियों का अनुभव कर, इसके सौन्दर्य का आस्वादन करना तथा इसे व्यवस्थित रूप से सजाना सभी मानव के लिए अप्राप्त है। ऐसी विशिष्टताओं से योग्य व्यक्ति को हम कलाकार कहते हैं। अतः कलाकार एक साधारण व्यक्ति नहीं है, लेकिन सामान्य व्यक्ति के तरह ही है। यह सर्वविदित बात है – कलाकार साधारण व्यक्ति से ज़्यादा संवेदनशील प्राणी है। परिवेशगत चतुर्थिक घटनाएं और समस्यायें उनके मन में साधारण से अधिक संवेदना उत्पन्न करती हैं। परिवेशगत घटनाएँ और समस्याएं ही उनके सृजन की प्रेरणा बनते हैं, लेकिन कभी-कभी अपने आत्म-प्रकाशन में यह परिवेश उन्हें बाधा भी पहुँचाता है। तभी उनके मन में संघर्ष उत्पन्न होता है। कलाकार का जीवन, संघर्ष का पर्याय, बनकर निरंतर अपने जीवन में सामंजस्य और तादात्म्य बनाने के लिए परिस्थितियों से संघर्ष करते रहते हैं। अतः संघर्ष ही कलाकार की रचनाधर्मिता का एक केन्द्रीय पक्ष बनते हैं। कलाकार को अपने सृजन की ऊँचाईयों में तृप्ति का आनंद मिलता है तो उसकी चकरीली पथरीली राहों में भटकन भी कम नहीं। दम उखड़ते यहाँ देर नहीं लगती। इन राहों के राही जानते हैं कि कई बार दस्ते के दस्ते कागज़ों पर सरपट दौड़ती हुई लेखनी अचानक रुक जाती है, किसी गहन अनुभूति का भार ढोते-ढोते बीहड़ स्थल पर पहुँचकर अभिव्यक्ति लडखडाने लगती है, स्वर्ण

मृग का पीछा करता हुआ रचना रथ, गलत मोड़ ले लेने से रास्ता खो बैठता है, या इसी प्रकार की कोई समस्या सहसा सिर उठाकर गतिरोध ला देती है और साहित्यकार झुँझलाकर रह जाता है। रचना प्रक्रिया में भले ही एक का अनुभव दूसरे के काम न आए, पर एक की निष्काम साधना दूसरे के लिए प्रेरणा तो बन ही सकती है। और फिर साहित्यकार की स्थूल समस्याएं भी तो हैं। साहित्यकार को अपने भीतर जूझना पड़ता है तो बाहर भी उसे कम संघर्ष नहीं करना पड़ता। बाहरी प्रतिकूलताएँ तो बड़ों की कमर तोड़ देती हैं।¹ साहित्यकार के भीतरी और बाहरी संघर्ष के बारे में रणवीर रांग्रा का विचार से कलाकार के दोनों प्रकार के सृजन संघर्ष का व्यक्त चित्रण मिलता है। इनमें भीतरी या आंतरिक संघर्ष का संबंध मन के विविध रूपों – चेतन, अचेतन तथा अपचेतन से रहता है। यह संघर्ष व्यक्ति के अचेतन मन में पहुँचकर भावना ग्रंथि बन जाता है। व्यक्ति जब अपनी अनिर्णयात्मक तथा दुविधाग्रस्त मनस्थिति से संघर्ष करता है तब आंतरिक संघर्ष उत्पन्न होती है।

बाह्य संघर्ष जो है वह सामाजिक खिंचाव के कारण उत्पन्न हुई एक प्रतिक्रिया है। जब व्यक्ति बाह्य बाधाओं से संघर्ष छेड़ता है तब बाह्य संघर्ष का आरंभ होता है। कलाकार के लिए आंतरिक संघर्ष की अपेक्षा बाह्य संघर्ष अधिक व्यापक एवं अमंगलकारी होता है। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि बाह्य संघर्ष के विविध आयाम होते हैं।

¹ रणवीर रांग्रा, (संपादक), साहित्य साधना और संघर्ष, संपादकीय

ज़्यादातर सभी कलाकारों की अपने सृजनात्मक जीवन में इन आयामों से अवश्य ही मुकाबला करना पड़ता है।

समाज

कलाकार एक सचेत सामाजिक प्राणी है। वह अपने समाज की संस्कृति से इतने जुड़े रहते हैं कि यह उसकी रचनाओं में प्रस्फुरित होते हैं। इसलिए ही कला को समाज का दर्पण कहते हैं। एक समाज की सांस्कृतिक उन्नति एवं अवन्नति का परिचय हमें उस समाज की कला कृतियों में देखने को मिलते हैं। लेकिन जगह जगह समाज के कुछ सांस्कृतिक प्रतिनिधियों ही राजनीति और धर्म के साथ जुड़कर संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि कलाकारों के विरुद्ध आक्रोश चलाते हैं। यह कलाकारों की ओर सांस्कृतिक आपात काल का वातावरण पैदा करता है। कभी-कभी इन कलाकारों के जीवन में ऐसा क्षण भी आता है जब अपनी दृष्टि के प्रति ईमानदार रहने के लिए उसे स्वतंत्रता या मृत्यु में से किसी एक को चुनना पड़ता है। हकीकत यह है कि – यदि उसके चिंतन और सृजन की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाया जाता है तो यह उसके सृजन-आत्मन की मृत्यु ही है। क्योंकि एक ईमानदार साहित्यकार और सृजनात्मक प्रतिभा होने के नाते उसे स्वतंत्रता के बिना मृत जीवन की सी यातना सहना पड़ती है। स्वतंत्रता के बिना उसकी सृजन शक्ति कभी भी क्रियाशील नहीं हो सकती। सृजनात्मक क्षेत्र में स्वतंत्रता नहीं तो मृत्यु, इसके अलावा और कोई तरीका उनके सामने नहीं है।

कलाकार के सृजन-संदर्भ में बाधा पहुँचाने वाली सामाजिक शक्तियों में सबसे पहले आता है – परिवार, उनके अपने परिवार। परिवार जीवन का स्थूल उपक्रम है, वह उदरपूर्ति का साधन है और समाज के स्वरूप को बनाये रखने वाली एक संस्था। कलाकार के पारिवारिक जीवन क्लिष्ट होता है वह अपना जीवन जीना नहीं चाहता, जबकि परिवार उसे सीमित जीवन जीने के लिए बाध्य करता है। वह रहता अवश्य परिवार में है, लेकिन जीता है, नितांत भिन्न परिवेश में। परिवार उसकी सीमा है और वह उस सीमा का विस्तार है। कला सेवा में अपने जीवन व्यतीत करने वाले कलाकार ज्यादातर पारिवारिक उत्तरदायित्व से विमुख रहते हैं। कोई भी रचनाकार परिवार और रचना के साथ साथ नहीं जी सकता और दोनों के साथ न्याय भी नहीं कर सकता। कलाकार की रिश्तेदारी प्रायः परिवार की अपेक्षा विशाल मानव समुदाय से होती है और वह इसी परिप्रेक्ष्य में अपने परिवार से भी जुड़ा रहता है। वह अपने परिवार के लिए बेईमानी कर अतिरिक्त धन जुड़ाने का प्रयास नहीं करता है। यह परिवार में संगठन और विघटन की अवस्था पैदा करता है। ऐसी स्थिति में कलाकार के स्वतंत्र सृजन प्रश्नचिन्ह होकर सामने आता है।

परिवार से हटकर बाहर आने पर कलाकार को अपने स्वतंत्र सृजन के क्षेत्र में अंकुश लगाने वाली, सृजनात्मक जीवन में संघर्ष पैदा करने वाली कुछ सामाजिक शक्तियाँ, कलाकारों के बीच के ही लोग हैं। यानी कभी-

कभी कलाकार को अपने वर्ग से ही संघर्ष झेलना पड़ता है, जो परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, अविश्वास, संदेह और झूठे अहं की मनोभूमि पर जीते हैं या फिर निहित स्वार्थों के गुटों की भाषा बोलते हैं। इस तरह गुटबंदियां और घड़ेबाज़ियाँ जन्म लेती हैं। व्यक्तिगत स्तर के झगड़े कभी कभी आलोचना के रंग में पेश किए जाते हैं, किसी को बनाने और किसी को बिगाड़ने के लिए खेमेबाजी की जाती है। यह सच्चे कलाकार के लिए एक चुनौती बनते हैं। एक ईमानदार आलोचक कभी भी अपने आलोचना कार्य स्वार्थ हित और ईर्ष्या प्रकट करने का माध्यम नहीं बनाएगा। क्योंकि आलोचना एक कला है। कला का क्षेत्र निस्वार्थ है।

सृजन के क्षेत्र में ऐसे वर्गीय संघर्ष के साथ लिंग संघर्ष की भी गाथा सुपरिचित है। पुरुष सत्ता केंद्रित इस समाज में एक नारी होने के नाते एक कलाकार की सृजनात्मकता कहाँ तक सीमित रखती है इसके अनेक उदाहरण हमारे समाज में ही नहीं विश्व के कोने-कोने में मिलते हैं। जीवन के हरेक क्षेत्र की तरह कला के क्षेत्र में भी पुरुष ने अपने वर्चस्व फैलाए हैं। इस जटिल परिस्थिति में एक स्त्री कलाकार को अपनी सृजनात्मक क्षमता सफल रूप में प्रकट करना भी नहीं पड़ता है, चाहे वह साहित्य में हो, नाटक में हो, फिल्म में हो, चित्रकला में हो। २१ नवंबर १९४५ के दिन अमेरिका में लोकप्रिय उपन्यास लेखिका एलन ग्लासों की मृत्यु के पश्चात् उनकी आत्मकथा “द वुमन विदिन” १९५४ में प्रकाशित हुई। जिसकी शुरुआत वे

इन शब्दों के साथ करती है – “यह आत्मकथा मैं ने शरीर तथा मन की भयंकर यातनाओं के बीच लिखी है, उसके एक-एक शब्द में मेरे जीवन का सत्य भरा हुआ है। इस आत्मकथा को लिखने के पीछे मेरा हेतु अपने हृदय को खाली करना है और इसीलिये उसमें मेरा अंतर्जगत संपूर्णतः व्यक्त हुआ है। मेरे भीतर पड़ी स्त्री को मैं ने कभी भी खुलने नहीं दिया। अब आज इतने वर्षों के बाद इस आत्मकथा में मेरे भीतर की वह स्त्री बोल रही है।”

स्त्री होने के नाते अपने जीवन के कटु अनुभवों को आलेखित करते हुए वे कहती है कि लेखक बनने के सपनों के साथ १८ वर्ष की उम्र में एक बार किसी अच्छी साहित्यकार से मिलने न्यूयॉर्क गईं। वहाँ एक परामर्शक ने उनकी कृतियाँ देखीं। धीरे-धीरे साहित्यिक बातों के साथ-साथ अन्य बातें भी चलती रहीं। अंत में परामर्शक महोदय ने सीधे ही कह डाला – ‘उपन्यासकार बनने के लिए ऐसे सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं है। तेरी जैसे सुन्दरी को लिखने की मेहनत करने की क्या ज़रूरत है? क्या तू सचमुच जैसी दिखाई दे रही है, उतनी सुन्दर है?’ दूसरे ही क्षण उसका हाथ एलन के कंधे पर था। एलन का यह पहला अनुभव था। डरपोक एलन उसके पंजे से छूटकर भागी। शार्प रिऑलिरीज़ की पांडुलिपि को छपवाना तो दूर, एलन ने उसे जला दिया, आसाध्य अपमान की आग के कारण।¹

¹ डॉ. शशि पंजाबी, , मधुमती मार्च 2011, पृ : 8

स्त्री के जीवन की शार्प रिऑलिटीज़ अमेरिका की हो या भारत की यही रहेगी। पुरुष मेधा समाज में स्त्री को अपने स्त्रीदेह के कारण कितना दुःख सहना पड़ता है यह चिंतनीय बात है। पुरुष जिस स्थान पर हँसते हँसते पहुँच जाता है, उस जगह पर पहुँचने के लिए स्त्री को कितना संघर्ष झेलना पड़ता है वह विवरणातीत है। स्त्री देह के इसी संघर्ष का दूसरा उदाहरण है 'बहिना बाई'। बिलकुल सामान्य मराठी परिवार की स्त्री बहिना बाई भी अपनी आत्मकथा में व्यक्त करती है – “स्त्री देहधारी मुझे क्या करना, स्त्री देह के कारण मुझे पराधीन ही रहना? दुन्यवीं प्रवृत्ति को त्याग देना? अपनी तमन्ना को मन में ही दफना देना? अरर वेद ऊँचे स्वर में कहता है कि स्त्री देह शुभ हो ही नहीं सकता और पुराण उसकी साक्षी देते हैं, बस स्त्री अर्थात् पतन। प्रकृति ने मुझे स्त्री देह दी, उसमें मेरा क्या दोष? मैं क्या करूँ? मुझे आत्म कल्याण का अधिकार ही नहीं क्योंकि मैं स्त्री हूँ, मैं मोक्ष कैसे प्राप्त करूँगी? ----- हे ईश्वर मुझे स्त्री क्यों बनाया? ये अन्याय तूने मेरे साथ क्यों किया?”¹

यह पुरुष वर्चस्व समाज के प्रति एक स्त्री की हृदय व्यथा है। जब तक नारी पुरुष के बल के आकर्षण से मुक्त नहीं होती तब तक वह 'मुक्त' नहीं हो सकती। कलाकार से टकराती और एक सामाजिक शक्ति है प्रकाशक या संपादक। लगता है पुराने ज़मीनदारों का वेश आज प्रकाशक वर्ग पहने हुए

¹ डॉ. शशि पंजाबी, मधुमती मार्च 201, पृ : 8

है। क्योंकि शोषण उनका एकमात्र लक्ष्य हो गया है। प्रकाशक और संपादक वर्ग सदा रचना की अपेक्षा रचनाकार की प्रसिद्धि पर अधिक ध्यान देते हैं। उनका यह प्रकाशन एक व्यवसाय ही है। व्यवसाय के कर्णधारों के आग्रह पर लेखक बेचारे को पग-पग पर अपनी अन्तरात्मा से विच्छिन्न होना पड़ता है। बेचारे रचनाकार को कभी-कभी इन लाभेच्छी प्रकाशक वर्ग के इच्छानुसार रचनाकार्य करना पड़ता है, जो उनके आंतरिक मन से प्रस्फुरित नहीं होगा। यह भी एक प्रकार का संघर्ष है कि – अपने इच्छानुसार, मनचाहे समय पर, मनचाहे विषय पर इन कलाकारों के सृजनरत रहना न पड़ता है। इस दुविधा ग्रस्त स्थिति का एक सशक्त उदाहरण है प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार दस्तवयस्की का जीवन। उसकी पत्नी अन्ना के संस्मरण ग्रंथ से इस बात का पता चलता है कि – दस्तवयस्की ने अपने उपन्यास 'द ज्याम्ब्लर' (The Gambler) की रचना ऐसी ही प्रतिकूल परिस्थिति पर की थी। दस्तवयस्की के जीवन पर आधारित मलयालम के विख्यात साहित्यकार पेरुम्बडवम श्रीधरन का बहुचर्चित उपन्यास 'ओरु संकीर्तनम पोले' का सृजन भी मलयालम की एक समकालीन साप्ताहिक पत्रिका के संपादक के जिद्द करने से हुआ था। यह लेखक ही इस उपन्यास की भूमिका में लिखा है।

प्रकाशक का और एक वर्ग जातीयता पर बल देने वाले है। उनके लिए खास नियम एवं आदर्श होते हैं। इन नियमों की परवाह नहीं करने वालों

की रचनाओं का प्रकाशन वे नहीं करते हैं। मुक्तिबोध की पहली समीक्षात्मक कृति 'कामायनी' १९५२ ई. में रचित भी प्रकाश में नहीं आयी। क्योंकि वह प्रकाशक और प्रकाशन व्यवस्था से जुड़े प्रभावशाली वर्ग की रुची और हितों के विरुद्ध था, उनके द्वारा स्वीकृति साहित्यादर्श और समाजनीति के विरुद्ध है यही उनके समर्थन थे। अपनी कलात्मक एवं सामाजिक प्रतिबद्धता के कारण स्वतंत्र भावना से अनुप्रेरित कलाकार जब कला रचना की ओर प्रवृत्त होता है, तब वह विकृत नियमानुशासन का निषेध कर अपने लिए या जैसे लोगों के लिए रचना करता है। लेकिन प्रकाशन व्यवस्था इसको लोगों तक पहुँचाने का मार्ग अवरुद्ध कर देता है। फिर भी इन में कुछ कलाकारों ऐसी वास्तविकता से लड़कर अपनी सृजनात्मक क्षमता द्वारा सर्जनात्मक स्वतंत्रता में संक्षम और अटल रहकर सृजन की जगत में सजग रहे। इनके अनुमान में सर्जनात्मक स्वतंत्रता में ही कलाकार की स्वतंत्रता निहित है, जो भिक्षा के रूप में नहीं मिलती और न मिलेगी। उन्होंने प्रकाशन व्यवसाय की अमानवीय अनुदारता के कारण अपने जीवन काल तक ऐसी रचनाएँ अप्रकाशित ही रखीं।

इस अवसर पर अज्ञेय की प्रसिद्ध लम्बी कविता 'असाध्यवीणा' का पठन अधिक उचित होगा। इसमें अज्ञेय ने प्रियंवद की तरह सारे कलाकार को इन सभी प्रकार की सामाजिक एवं भौतिक चकाचौंधों को काटकर अपने सृजन कार्य में अटल रहने का, कला में स्वयं सौंप देने का आह्वान प्रकट करता है।

“पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा
नहीं स्वयं अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी तरु को।”¹

इस कविता में प्रियंवद का लक्ष्य वस्तुतः सिर्फ पूर्ण समर्पण के साथ असाध्य वीणा को साधना ही नहीं, सत्ता केंद्रित एक संपूर्ण आधुनिकतावादी परिवेश का सामना करना भी है। इसमें वह सफल भी हुआ। १९६१ में लिखी गयी यह कविता अपने समय का एक ऐसा आंतरिक पाठ है जिसमें उस समय के सारे संघर्षों की अनुगूँजे गूँजती है।

आज कलाकार की विचार धारा, किसी न किसी सामाजिक वैचारिक आख्यान पर निर्भर है। कोई भी कलाकार इस आख्यान का नज़र अंदाज़ न करे तो उन्हें सामाजिक शक्तियों के क्रूर विनोद का पात्र भी होना पड़ता है। यही कला की हैसियत है। भावनाओं का निर्माण और उनका प्रतिनिधित्व कलाकारों के हाथ में नहीं है, जो स्वयं विचार धारा और मर्यादा का खेल है। कलाकार सदा सत्य की अभिव्यक्ति करना चाहता है। उसकी चाह जितनी गहरी होती है या अनुभव जितना तीव्र होता है अभिव्यक्ति भी उतनी गहरी होगी। इस तरह की अभिव्यक्ति के समय समाज उनपर ‘संस्कृति विमर्श’ के नाम पर पाबंदियाँ डालता है। इसका एक उदाहरण है ‘श्लील अश्लील’ का

¹ अज्ञेय, असाध्य वीणा (प्रतिनिधि कविताएं एवं जीवन परिचय), पृ : 96

प्रश्न। जब कलाकार सत्य के पक्षधर होते हैं, तब उन्हें उसका खुला-सा चित्रण करना पड़ता है। सत्य नग्न है। नग्नता सत्य का अनिवार्य परिवेश है। सत्य को पाने के लिए नग्न से नग्नतर और नग्नतर से नग्नतम की ओर जाना होगा। तब श्लील अश्लील पर ज़ोर देने की आवश्यकता भी नहीं होती। अज्ञेय के अनुसार 'श्लील और अश्लील देश काल पर आश्रित हैं जो व्यक्ति की दृष्टि में होती है।' ¹ दृष्टि में अश्लीलता का होने का अर्थ यह नहीं है कि – देखना अश्लील है। वस्तुतः अधूरा देखना अश्लील है। यह श्लील अश्लील का प्रश्न तो सिर्फ समाज का और इससे फायदा उठाने वाले कुछ शक्तियों में ही मौजूद है। प्रसिद्ध चित्रकार एम.एफ. हुसैन पर श्लील अश्लील के नाम पर हुए आक्रमण भी इस तरह का है। इस विषय के संबंध के साहित्यकार कुँवर नारायण का कहना है - "हुसैन की कला विशुद्ध कला के रूप में अभिव्यक्ति ढूँढती है। हुसैन अपनी कला को स्टार्इलाइजेशन या क्लीशे नहीं बनते देते। वे किसी दशा में अपनी रचना प्रेरणा को किसी विचार के हाशिए में नहीं जाने देते – यानी एक कला की पहचान किसी विचार के साथ न जुड़कर उस प्रेरणा के साथ जुड़ती है, जो एक कलाकार को माध्यम विशेष की रचनात्मक संभावनाओं की ओर आकर्षित करती है। अगर हम यह मान ले और यह मानना मैं ज़रूरी समझता हूँ कि – रचनात्मकता एक कला का प्रमुख विषय होता है, तो यह हुसैन की कला के

¹ अज्ञेय, आत्मनेपद, पृ : 76

पक्ष में जाता है कि –वह किसी दूसरे विषय को अपने ऊपर हावी नहीं होने देती।”¹

अर्थ

उपभोग संस्कृति की विभीषिका से त्रस्त आधुनिक समाज में धन को अत्यधिक महत्व दिए जाने के कारण सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति से निश्चित होती है। सामाजिक दूरियाँ, आर्थिक अंतर बढ़ने के साथ साथ बढ़ती है। इससे भिन्न-भिन्न वर्गों के लोगों में परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यह संघर्ष संपूर्ण विश्व में सब कहीं व्याप्त है, धनिकों में, निर्धनों में, शोषकों में, शोषितों में, मालिकों में, श्रमिकों में, एक साथ दृष्टिगत होता है। व्यक्ति, समाज, देश एवं विश्व इस आर्थिक संघर्ष से ग्रस्त है। अर्थ प्रधान व्यवस्था ने एक ओर प्रगति के नए-नए पथ प्रशस्त किए हैं और दूसरी ओर विभिन्न आर्थिक समस्याओं को भी जन्म दिया है। आधुनिक व्यक्ति जीवन के हर मोड़ पर यह संघर्ष विध्यमान है, व्यक्ति चाहे या न चाहे, इस विभीषिका को झेलना पड़ता है या तो इसका सामना करना पड़ता है।

एक सामाजिक प्राणी के रूप में कलाकार के जीवन की मूल समस्या है, कलाकार के रूप में अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने की, और शेष सब समस्याएँ इस समस्या के साथ ही जुड़ी हुई हैं। इस प्रसंग में साहित्यकार की आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न सबसे पहले सामने आता है। जीवन की

¹ यतीन्द्र मिश्र(संपादक), कुँवर नारायण: डायरी के पन्नों से, पृ :53

भौतिक आवश्यकताओं को ओढ़ने-पहनने, जीवन देने और सुरक्षित रखने के लिए चाहिए 'अर्थ'। यदि एक कलाकार आर्थिक रूप में स्वतंत्र नहीं है तो कलाकार के रूप में उसके व्यक्तित्व का विकास कुंठित होने लगता है। एक कलाकार को अपने सृजन क्षेत्र में स्वतंत्र रहने के लिए आर्थिक सुरक्षा अनिवार्य है। नहीं तो आजीविका के लिए सृजन के अतिरिक्त अन्य साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐसे कलाकार को जीवन में कई तरह के समझौते करने के लिए विवश होना पड़ता है और ये समझौते अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व को तोड़ता है। इस तरह आर्थिक समस्या एक कलाकार के अस्तित्व के लिए चुनौती बन जाती है। यह समस्या कलाकार के स्वतंत्र सृजन में एक बाधा है।

सृजनात्मक जीवन में बाधा बनकर ठहरने वाली इस आर्थिक विभीषिका से मुक्ति के लिए कलाकार को कभी कभी अपनी कला का बाज़ारीकरण भी करना पड़ता है। इस तरह कला बाह्य ज़रूरतों से उपजा एक साधन मात्र बन जाती है। कलाकार को बाज़ार की आवश्यकताओं, माँग और पूर्ति के उतार-चढ़ाव के अनुसार काम करना पड़ता है। वह उन लोगों की रुचियों, वरीयताओं, विचारों और सौन्दर्य संबंधी धारणाओं के अधीन होता है। बाहरी आवश्यकता के दबाव में उत्पन्न कला, कलाकार के लिए पराई बन जाती है। जब कला रचना का अर्थ उलटकर जीविका का साधन मात्र बन जाता है तब इस प्रकार का परायेपन उत्पन्न होता है। जिस समाज में कलाकृति बाजारू माल बन

जाती है, वहाँ कला अलगाव का शिकार हो जाती है, दीनता से भर जाती है और अपना सारस्वत खो देती है। मार्क्स अपने 'इकानमिक एंड फिलासोफिक मैनुस्क्रिप्ट्स' में ऐसा कहा है कि "पूँजीवाद के अंतर्गत कला उत्पादन के आम नियम के अधीन हो जाती है।"¹ यह स्पष्ट रूप से कला रचना के पतन की ओर इशारा करते हैं।

लेकिन इस पूँजीवादी समाज के अंतर्गत भी ईमानदार कलाकार इस अवस्था का शिकार होने से बचने की कोशिश करता है। वह वेतनभोगी बनने को अपनी नियति नहीं मान लेता। एक सामाजिक सत्ता के रूप में अपनी आंतरिक ज़रूरतों को संतुष्ट करने का प्रयास करते हुए वह कला के अर्थ को उलट देने वाले इस अतिक्रमण का सामना करने और अपने अस्तित्व को बनाये रखने में काबू पाना चाहता है। समूची व्यावसायिकता की नियति के आगे अपनी कला को झुकाने से इनकार करते हुए और भयावह अभावों की कीमत पर अपनी स्वतंत्रता को हासिल करते हुए, वह इसके शिकार होने से बचने के रास्तों की तलाश करता है। लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि – मिर्जा ग़ालिब जैसे विश्व प्रसिद्ध शायर, प्रेमचंद जैसे कलम के सिपाही, इस तरह कला के प्रति ईमानदार रहने के कारण अपनी आखिरी साँस तक ऋण बोझ से कमर झुकाए रहें।

¹ Religion, family, state, law, morality, science, art etc, are only particular modes of production, and fall under its general law, Karl Marx, Economic and Philosophic Manuscript of 1844.

धर्म

धर्म मानव जीवन का आधार शिला है। यह समाज में एक-एक व्यक्ति को अनुशासित एवं नियंत्रित करता है। सच्चे अनुशासन के अभाव में व्यक्ति उच्छृंखल और अराजक हो सकता है। मानव जाति का धर्म मानवीयता है। यह व्यक्ति को उच्छृंखल अराजक और हिंसक होने से रोकता है तथा उसे शांति, सदभाव और सयंम की सीख देता है। इतने में हम यह कह सकते हैं कि धर्म अंधे की लकड़ी है। वह व्यक्ति का सम्बल और शक्ति है। हरेक समाज में व्यक्ति के लिए धर्म का होना अनिवार्य है। वह व्यक्ति को असत्य से सत्य की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर, विषमता से समता की ओर, शत्रुता से मित्रता की ओर, घृणा से प्रेम की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा अशुभ से शुभ की ओर ले जाता है। धर्म का काम जोड़ना है। व्यक्ति व्यक्ति को आपस में जोड़ने का प्रयास धर्म करते हैं। अर्थात् धर्म का काम लोगों को नेक, सुखी उत्साही, स्वस्थ, खुदापरस्त, विकसित, प्रेमपूर्ण बनाना है। लेकिन आज धर्म के इन सभी अर्थ और कार्य बिगड़ गए हैं। व्यक्ति व्यक्ति को परस्पर जोड़ने की जगह उनमें विद्रोह की भावना जगाने का काम आज धर्म द्वारा चलते आ रहे हैं। आज धर्म समाज में एक नशा मात्र है। यह आज राजनीति के साथ जुड़कर शोषण का माध्यम बन गया है। वास्तव में राजनीति के सजग प्रशासन के लिए धर्म का स्थान अभिन्न है। गाँधीजी धर्महीन राजनीति को नेत्रहीन मानते थे। हरिजन सेवा उनके लिए धर्म का अंग था। स्त्री समानता भी धर्म था, दासता, अन्याय, शोषण के

विरुद्ध संघर्ष भी धर्म ही था। राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि के लिए वह धर्म नहीं त्याग सकते थे। लेकिन आज राजनीतिज्ञों के दूषित अखाड़ों पर धर्म की ध्वजा लहराई जा रही है। धर्म की जो परिकल्पना थी, उससे धर्म बहुत दूर हो गया है। धार्मिक कट्टरता की भावना आज समाज के हरेक क्षेत्र को विकृत एवं विकलांग कर देते हैं। धर्म के नाम पर अधर्म का बढ़ावा हो रहा है।

प्राचीन काल में धर्म मार्ग होते हुए भी लक्ष्य के रूप में था। मनुष्य का लक्ष्य धर्म को प्राप्त करना था। मनुष्य के प्रत्येक कार्य तथा शक्तियाँ धर्म की प्राप्ति में सेवक की भाँति थी। इसी प्रकार, कलाओं का लक्ष्य भी धर्म प्राप्ति था। कलाएँ धर्म के लिए थी। धर्म पहले था, कला बाद में। धर्म के प्रचार प्रसारण के कार्य क्षेत्र कलाओं में व्यापृत थी। संपूर्ण प्राचीन भारतीय कला का कार्य धर्म का प्रचार करना था, चाहे ब्राह्मण कला हो, बौद्ध कला हो या जैन कला। लेकिन समकालीन संदर्भ में कला स्वयं एक धर्म है। जिस प्रकार धर्म मनुष्य के जीवन को सुखी और आनन्द बनाना चाहते थे, उसी प्रकार अब कला स्वयं यह काम करने को उद्धत है। आज कला दूसरे का सहारा नहीं लेना चाहती है। क्योंकि वह खुद ही शक्तिशाली बनना चाहती है। इस प्रकार अपने पैरों में खड़े रहने की कोशिश के बीच आज कला को सत्ता और धर्म के गठबंधन से उत्पन्न संघर्ष का भी सामना करना पड़ता है। राजनीति और धर्म की साजिश के कारण कभी कभी कला विकास की दिशा की ओर

अग्रसर न होकर पतन की ओर फिसल जाती है। ऐसी भीषण परिस्थिति में स्वतंत्र सृजन कलाकार के लिए एक अप्राप्य कार्य बन जाता है।

आज धर्म के क्षेत्र में फैले रूढिवादिता, अंधविश्वास एवं अमानवीयता, वर्ग विद्वेष के प्रति विद्रोह एवं इसका खुला-सा चित्रण करने वाले कलाकार वर्ग, निर्वासन के भीषण स्थिति का सामना करता है। धर्माधता के ज्वर से उत्पन्न ऐसी प्रवृत्तियाँ कलाकार के सृजन व्यक्तित्व के लिए ही नहीं उनके अस्तित्व को भी धमकी देती हैं। इसका एक सशक्त नमूना है प्रसिद्ध चित्रकार एम.एफ.हुसैन। दुर्गा देवी का नग्न चित्र के नाम पर उभरे धार्मिक विद्रोह ने उनकी जड़ों को भी काट लिया था।

कलाकार की विचार स्वतंत्रता पर धर्मोन्माद से उत्पन्न ऐसी प्रतिबंधिता देशकाल की सीमा से परे है। इतिहास भी इसका साक्षी है। ऐसी प्रवृत्तियाँ इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र हैं। उच्च वर्ग की अमानवीय व्यवहार से उत्पन्न कठिन यातनाओं का सामना करने वाले निम्न वर्ग का हृदयग्राही चित्रण है तसलीमा नस्रिन की 'लज्जा' नामक रचना। कोरी धर्माधता के विरुद्ध उत्पन्न असहिष्णुता भरी यह रचना धर्म तथा राजनीति के गठबंधियों के अनुसार 'दैववचन' के विरुद्ध है। पुरुष वर्चस्व पूर्ण इस्लामी धर्म व्यवस्था से पीड़ित मुस्लिम स्त्रियों के दर्दभरी जीवन का खुला-सा चित्रण इस रचना का विषय है। इसमें असंतुष्ट धार्मिक प्रतिनिधियों ने बांग्लादेश सरकार को साथ लेकर उनपर 'फतवा' घोषित

किया। यहाँ के एक मौलवी ने तस्लीमा की हत्या करने वालों को २५०० अमेरिकन डॉलर देने का वादा भी किया। प्रमुख कलाकार सलमान रुशदी पर आयतुल्ला खुमैनी द्वारा घोषित हत्या के फत्वा भी इसी तरह का एक है। लेकिन इस कलाकार ने अपनी जान की रक्षा के लिए उनसे माँफी माँग ली। मृत्यु के पदछाप के सामने आने पर भी तस्लीमा अपने उसूलों पर अटल रही। 'माँफी माँगने के लिए मैं रुशदी नहीं हूँ' यह उनकी ताकतवर वाणी थी। मलयालम के विख्यात कथाकार वैक्कम मुहम्मद बषीर की कहानी 'भगवतगीता एवं कुछ उरोज़' के शीर्षक को लेकर भी इसी धार्मिक कट्टर पंथियों का आक्रोश हुआ था। प्रसिद्ध मलयालम लेखक पि.एम.आंटनी का 'क्रिस्तुविटे आरां तिरुमुरिवु' नामक रचना पर ईसाई धर्म प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिबंध एवं प्रहार हुआ था।

कला विकसित मानव चेतना की सर्वोत्तम परिणति होती है। इसलिए ही युग युग के सत्य का उद्घाटन करने का प्रयास इसमें होता है। इस प्रयास पर प्रतिबंध लगाने वाली सभी प्रवृत्तियाँ उनके अभिव्यक्ति स्वतंत्रता के लिए बाधा है। कला के क्षेत्र में और नैतिकता के नाम पर चलने वाले सारे के सारे षड्यंत्र उनके स्वतंत्र सृजन, चिंतन एवं जीवन में संघर्ष पैदा करता है।

राजनीति

आज प्रजातांत्रिक राजनीति का युग है। जनता के लिए, जनता के द्वारा और जनता पर शासन करना, याने प्रजातंत्र। लेकिन हम इस प्रजातंत्र

के स्वप्न से कोसों दूर है। कभी भी स्वप्न को सत्य नहीं कह सकते। इस प्रकार प्रजातंत्र की परिभाषा भी अब स्वप्न रही है, सत्य से परे; आदर्श, वस्तु, स्थिति से भिन्न। प्रजा के हित एवं प्रजा के संरक्षण के लिए बनी गई यह प्रजातंत्र व्यवस्था आज कुछ स्वार्थी लोगों एवं वर्गों के हाथ का खिलौना मात्र है। राज सत्ता पर अधिकार प्राप्त कर पूँजीपति वर्ग इसका इस्तेमाल अपने और छुटभइए शोषक वर्गों के स्वार्थ के लिए तथा श्रमजीवियों के दमन में करता है। संसद, पुलिस फौज, न्यायपालिका सबका इस्तेमाल मूलतः पूँजीपतियों और उनके साथियों तथा सेवकों के स्वार्थों की रक्षा के लिए किया जाता है। चाहे वह व्यक्तिगत स्वार्थ हो या दलगत स्वार्थ, न जाने विश्वभर के मानव को यह अनेक समस्याओं में दिन-प्रतिदिन फँसा रहा है। सांस्कृतिक चेतना के विकास के सिवा वे अपने स्वार्थ लाभों के लिए निरीह जनता की बलि देते हैं और अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाने वाले बुद्धिजीवियों एवं सांस्कृतिक प्रतिनिधियों को सदा दबाते हुए सताते रहते हैं।

१९४७ में भारत का शासन भार वर्तमान शासकों के हाथ में आये। लेकिन इसी शासक वर्ग ने साम्राज्य पूँजी और सामंती शोषण के विरुद्ध संघर्ष की जगह, उसके साथ समझौता का, उनके याने शोषितों का शोषण का रास्ता अपनाया। अपने पद एवं हित को हमेशा सुरक्षित रखने के लिए कोई भी कुकर्म करने व करवाने के लिए वे तनिक भी हिचकते नहीं।

अंग्रेज़ीशासन के बाद संपूर्ण स्वतंत्रता, माने 'सभी नागरिकों को बराबरी का दर्जा, अवसर की समानता, विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' आदि सब कागज़ी योजनाएं मात्र रह गयीं। फल स्वरूप समाज के साथ साहित्य, संस्कृति तथा कला के क्षेत्र अत्यंत अवन्नता में गिरने लगे। हमारी इन शासकों ने ऐसी दशा पैदा कर दी है, जिससे हमारे देश के सांस्कृतिक प्रतिनिधियों, कलाकारों के आर्थिक हितों की सुरक्षा और उनकी सृजनात्मक स्वाधीनता अत्यंत संकट ग्रस्त बन गयी। उनकी सृजनशीलता एवं अस्तित्व खतरों में पड गया है। उन्होंने हमारे समस्त सांस्कृतिक जीवन को कुंठित और विकृत बना दिया है, तथा एक पतन शील और मरणोन्मुख संस्कृति को विकसित किया है। भारत स्वतंत्रता के बाद संपूर्ण समाज वादी या प्रजातंत्रीय राष्ट्र बन गया, यह बात सोलह आने झूठी है। यहाँ वे समाजवाद की धोखे की टट्टी खड़ी कर विशुद्ध पूँजीवाद का निर्माण कर रहे हैं। उन्होंने जनवादी क्रांति के कामों को पूरा करने की जगह उसके साथ गद्दारी की है। बिलकुल उल्टा रास्ता अपनाकर जन विरोधी क्रूर विनोदों में तैरकर खेलते हैं।

भारत में एक समय ऐसा भी था कि संस्कृति के प्रतिनिधि ऋषि थे। वेदव्यास वेदों की रक्षा करते हुए अरण्य में रहते हैं और जब तक आकर राजा को मार्ग दर्शन दे जाते थे राजा उन्हें पूजनीय मानते थे। क्योंकि ऋषि के यहाँ त्याग और तप है। इससे विलुप्त होकर जब सांस्कृतिक पुरुष ऋषित्व से गिरा तो उसे शासक वर्ग ने मात्र एक अलंकार की वस्तु बनाकर

रखना शुरू कर दिया। कलाकार, साहित्यकार का एक क्लासिकल आकार गढ़ लिया गया --- संस्कृति पुरुष उसी में सुशोभित रहें, रियासती मामलों में दखल की उसे ज़रूरत नहीं वह ऋतुओं का वर्णन करें, श्रृंगार सौन्दर्य का वर्णन करें, वीरगाथा का वर्णन करें तदोचित धार्मिक प्रधान भी रहें यह सिलसिला रीतिकाल तक चलता रहा। बीचों-बीच, मृच्छकटिकम जैसी पुस्तकें अपवाद स्वरूप आयी जो राजकीय मामलों में चोट करने की कोशिश करती है। आधुनिक काल में विशेषकर ब्रिटिश शासन एवं स्वतंत्रता संग्राम, विश्व युद्ध आदि के समय कला और संस्कृति के प्रतिनिधि वर्ग मौन न रहें। उन्होंने अपने सृजन द्वारा जन समूह में आक्रोश, क्रांति एवं विद्रोह की भावना उजागर की। स्वतंत्र राष्ट्र निर्माण की भावना से उत्तेजित होकर वे राष्ट्रप्रेम से ओतप्रोत रचनाएँ की। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के क्रूर हस्तों में इन रचनाओं का भली-भांति वितरण संभव न हुआ। उन्होंने इन रचनाओं पर पाबंदी डालकर इसकी सभी प्रतियाँ जलायी और जप्त भी कर दिया। प्रेमचंद की 'सोज़ेवतन' इस दारुण इतिहास का मिसाल है। मराठी साहित्य में सावरकर की 'माझी जन्मठेप', साने गुस्जी की 'पत्री', खाडिलकर की 'कीचड वध', बंगाली साहित्य में दीनबंधु मित्र का 'नील दर्पण' शरत चन्द्र की 'पथेर दाबी', काज़ी जरूल इस्लाम की 'अग्निवीणा', हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अंधेर नगरी, मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती, पंडित सुन्दरलाल का भारत में अंग्रेज़ी राज्य आदि कृतियाँ अंग्रेज़ शासन के इस दारुण इतिहास का मिसाल है।

दुनिया कितनी बदल गयी। साम्राज्यवादी हस्तों की ऐसी क्रूर कूटनीतियाँ आज के इस युग में भी जारी है --- आज फिलिस्तीन के बहुत बड़े भूभाग पर इज़राईल का कब्ज़ा है, और वह फिलिस्तीनी लेखकों को विद्रोही साहित्य लिखने की इज़ाज़त नहीं देता। इन लेखकों को प्रलोभन दिए जाते हैं कि यदि वे प्रेम और सौन्दर्य की कविताएं लिखेंगे तो उन्हें नौकरियाँ दी जायेंगी, पुरस्कृत किया जायेगा, पर यदि देशभक्ति और विद्रोह की कवितायें लिखेंगे तो कड़ी से कड़ी सज़ा दी जाएगी। यानी अपनी दासता में रहकर कलात्मक रूप में कुछ भी करने का अधिकार है बल्कि कला को समाजोन्मुखी बनाने में और अपनी ओर विद्रोह पैदा करने में वे निष्क्रिय रहेंगे। जहाँ कोई कलाकार समकालीन सत्ता का समर्थन करेगा, वहाँ सत्ता उसे प्रोत्साहित करेगी, पुरस्कृत भी करेगी, जहाँ विरोध करेगा, वहाँ उसे दण्ड भी दे सकती है उससे अभिव्यक्ति के बहुत से साधन छीन लिए जाते हैं।

प्रसिद्ध स्पानिश नाटक कार लोर्का का अंत भी ऐसा एक इतिहास है कि वहाँ के साम्राज्य वादी शासन के विरुद्ध 'रिपब्लिकंस'से चलायी गई क्रांति में वे लोर्का के व्यवस्था विरोधी नाटक को प्रस्तुत किया। इसमें असंतुष्ट साम्राज्य शक्तियों ने उन्हें गोली से उठाया। अनेक अन्य देशों में भी ऐसी हालत है।

स्वतंत्र भारत में भी ऐसी ही स्थितिगतियाँ मौजूद हैं। अपने स्वार्थ हित-लाभ एवं प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह या आवाज़ उठाने वाले जो भी हो,

जो आम जनता हो, पत्र-पत्रकार मीडिया हो, कलाकार हो, पूँजीपति वर्ग के काले हाथ उनपर ज़रूर ही पड़ेगा यह निश्चित है। भारत में १९७३ में इंदिरागांधी सरकार द्वारा घोषित आपात काल का समय भी इस प्रकार जनपक्ष के विरुद्ध थे। दुनिया के सबसे बड़ा प्रजातांत्रिक देश कहलाने वाले हमारे देश में 'स्वतंत्रता' कतिपय अति विशिष्ट व्यक्तियों का हक है। बाकी सब को सिर्फ जीने या मरने के लिए ही स्वातंत्र्य है। इसके अलावा वे सत्ता विरोधी प्रवर्तन करेगा तो इसका उन्मूल नाश इन साम्राज्यवादी शक्तियों के हाथ से होगा। सलमान रुशदी की दि सेटनिक वर्सेस पर प्रतिबंध लगाते हुए आयबुल्ला खुमैनी द्वारा लेखक की हत्या का फतवा जारी किया गया तो भारत सरकार ने चुप्पी सांधी। यही नहीं भारत सरकार ने भी उसपर प्रतिबंध लगाया क्योंकि हमारी शासन व्यवस्था तुष्टीकरण की नीति अपनाने के पक्ष में थी। सांप्रदायिक उन्माद भड़काने वाले के समक्ष इसका सीधा समर्पण एवं धार्मिक श्रेष्ठता की इसकी स्वीकारोक्ति जो धर्म निरपेक्ष सरकार के दोगले चरित्र को ही उजागर करती है। सरकार की मंशा को उस समय मूर्त रूप दिया गया जब सफ़दर हाशमी के नेतृत्व में दिल्ली के जन नाट्य मंच के साथियों द्वारा नुक्कड़ नाटक का मंचन दिल्ली के ही निकटस्त साहिबाबाद में कर रहे थे, कांग्रेस गुण्डों द्वारा उनका कातिलाना हमला किया। घटना स्थल पर ही मज़दूर साथी रामबहादुर की मृत्यूहो गयी और २ जनवरी की रात को महान रंगकर्मी साथी सफ़दर हाशमी चल बसे। इतने भयंकर हत्याकाण्ड के विरुद्ध देश में ही नहीं विदेशों में भी भरपूर

निन्दा प्रवाह बरसने लगा। लेकिन सत्ता मौन रही। सत्ता को इस बात की याद रखनी चाहिए कि राजनीति की स्वार्थनीति के ऐसे उदाहरण इतिहास के पन्नों पर काले अक्षरों में सदा रहेंगा।

सत्ता की कला विरोधी क्रियाओं ने सेंसरबोर्ड के रूप में भी समाज में अपना हस्ताक्षर प्रमाणित किया है। कला की दृश्य मान विधाएँ जैसे फिल्म, नाटक आदि के क्षेत्र में सेंसरिंग के द्वारा सत्ता अपनी झूठी मूल्य संहिता का रक्षा बरकरार रखती है। श्लील अश्लील के और झूठी धर्माधता के नाम पर सत्ता इनपर प्रतिरोध डालती है। सेंसरिंग के नाम पर वर्षों से चले आने वाली सत्ता के इस झूठी नीति और आदर्शों के विरुद्ध कलाकार सशक्त रूप से प्रतिक्रियात्मक सृष्टियाँ करने लगे। इसका एक नमूना है निर्देशक 'सुनिल षानबाग' का सेक्स मोरालिटी आँट सेंसरशिप नामक मराठी नाटक। १९७४ में सेंसरबोर्ड द्वारा प्रतिबंध लगाए गए विजय तेन्दुलकर का 'सखाराम बैन्टर' नामक नाटक को इस नाटक में सठीक विश्लेषित किया है। सदाचार क्या है? अश्लील क्या है? इसपर निर्णय लेने के लिए सेंसरबोर्ड कौन है? ऐसे प्रश्न इस नाटक द्वारा वे उठाते हैं। यह नाटक आज की दमन कारी शासन व्यवस्था के विरुद्ध कलाकार की आक्रोश भरी आवाज़ है। पश्चिम के समस्या नाटकों के संवाहक नोरवीजियन नाटककार 'इप्सन' पर पूँजीवादी अखबारों में गालियों की वर्षा की थी। पूँजीवादी व्यवस्था के खोखले आदर्शों एवं रूढ़िवादी मान्यताओं पर अपने

नाटक द्वारा प्रहार किए जाने पर उन्हें ऐसी दुरवस्था भोगनी पड़ी। ब्राज़ील के उत्पीड़ितों एवं आम जनता के लिए नाटक खेलने के कारण 'अगस्तो बोल' को अपने राज्य से निष्कासित किया गया और यह भी नहीं 'टॉरचर चेम्बर' में उन्हें नंगा करके उल्टा सिर लटका दिया और इलेक्ट्रिक शाँक भी दिया गया। रूस जैसे साम्यवादी देशों में भी सत्ता के आदर्शों एवं नीतियों के विरुद्ध कटु विमर्श करने के कारण कलाकार – साहित्यकारों को कठिन प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ा। सोल्झेनिस्तन, पास्तरनाक, आख्मोतोवा जैसे रचनाकारों की रचनाओं पर इन शक्तियों ने प्रतिबंध लगा दिया। इन लेखकों को निर्वासित जीवन बिताना पड़ा। आज के इस सुविधा भोगी समाज में ऐसी सामाजिक विसंगतियों से जनता को अवगत कराने का श्रम कुछ कलाकार करते हैं। अफ़सोस की बात है कि समाज इन्हें प्रोत्साहन देने के बगैर कुछ विद्रोही शक्तियों के साथ लेकर इसके लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, या इस कलाकारों पर प्रलोभन का मार्ग खोल देते हैं। पुरस्कार, पद, ओहदे जैसे प्रलोभन देकर इन कलाकारों को अपने वश में लाने का अयत्न करते हैं। वास्तव में यह व्यवस्था कला और कलाकार को गलत रास्ते की ओर ले जाती है। कला का उद्देश्य आदर्श एवं प्रगति के रास्ते का सबसे बड़ा दुश्मन बन जाता है। स्वार्थ सिद्धि पनपने पर न तो कला का स्तर ध्यान में रहता है, और न कला के राष्ट्रीय स्वरूप का। व्यवस्था के इस जाल में फँसने वाले कलाकार वास्तव में उस धुन के समान

होते हैं जो संपूर्ण संस्कृति को चाट कर समाप्त कर देते हैं, राष्ट्रद्रोही होते हैं। राज्य से प्रश्रेय पाकर राज्य को ही क्षीण बनाते हैं।

कला के प्रति ईमानदार कलाकार सत्ता के इस प्रलोभन में नहीं फँसता है। वे शासन व्यवस्था के ऐसे प्रलोभनों का निषेध करते हुए स्वयं स्वतंत्रता के रचयिता बनकर खड़े होते हैं। मशहूर चीनी कवि 'अयचिगड' इसका एक उदाहरण है जो तानाशाही सत्ता के सामने सिर झुकाकर अपने को बेचने के लिए तैयार नहीं थे। सत्ता ने उनकी रचनाओं पर रोक लगाई। बीस बरस तक गाँव का पाखाना साफ़ करने का काम उनपर दिया गया। लेकिन वह अपने आदर्शों पर अटल रहा। स्वतंत्रता से अलगाने वाले सब कुछ उनके लिए मृत्यु समान थे। ऐसे अडिग आस्था का एक ओर उज्ज्वल उदाहरण है --- 'सार्त्र'। अपनी कथनी और करनी में संपूर्ण स्वतंत्रता व्यक्त करते हुए सार्त्र स्वतंत्रता का सृष्टा बन गया। अपने जीवन में पूर्ण स्वतंत्रता के साथ जीने के लिए उसने विश्व का सर्वश्रेष्ठ नोबेल पुरस्कार को भी इनकार किया था।

समकालीन संदर्भ में भी लगभग प्रत्येक देश तथा समाज की कला अपने अपने राजनैतिक उद्देश्यों तथा मान्यताओं से जुड़ी हुई है। मार्क्सवादी, लेनिनवादी, कम्युनिस्ट देशों की कला अपने राजनीतिक उद्देश्यों, विचारों तथा जीवन दर्शन से प्रभावित है, उसी प्रकार जनतांत्रिक पूँजीवादी देशों की कला अपने ही समाज, राज्य तथा जीवन दर्शन का

प्रतिपादन करती है। राजनीति, जीवन दर्शन तथा समाज से कट कर कला अपना कोई रूप ले ही नहीं सकती। प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो भी परोक्ष रूप से उसी को ही अभिव्यक्ति करती है। सच्चे अर्थ में यथार्थ कला का उद्देश्य समाजोन्मुखी हो तो इसका पहला काम होगा, समाज में व्याप्त राजनीतिक अन्याय तथा भ्रष्टाचार के खिलाफ समाज को जागरूक बनाना तथा आन्दोलित करना। परंपरागत असामाजिक तथा असांस्कृतिक कुरीतियों के प्रति घृणा उत्पन्न करना और उनके उन्मूलन के प्रति लोगों को प्रोत्साहित करना, हर प्रकार की सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा देना। इसके बिना समाज कल्याण विदूर ही रहेगा और स्वस्थ, शांत, प्रगतिशील जीवन न प्राप्त होगा, न सुखमय, आनन्दमय कला का जन्म ही हो सकता।

निष्कर्ष

सृजन प्रक्रिया आज ज़रूर ही एक समस्याग्रस्त कार्य है और हमारा समाज आज इन समस्याओं को उग्रतर बनाते भी चला आ रहा है। लेकिन सर्जन की इन समस्याओं का हल करने के लिए और सामाजिक संकट को दूर करने के लिए हम आज तक कोई सूत्र वाक्य की खोज भी नहीं करते हैं। गीता की उक्ति यहाँ याद करेंगे –‘संभवामि युगे युगे’। रातोंरात समस्याएँ दूर न होंगी और न संकट कटेगा। जब तक परिवेश के सम्मुख आत्म समर्पण कर, वस्तुस्थिति को ज्यों का त्यों स्वीकार कर, उसी का चित्रण मात्र में

रचनाकार की ईमानदारी की खोज होंगी तब तक न सामाजिक परिवेश बदलेगा, न संकट कम होंगे, न सर्जन निरापद होगा। सृजन कार्य में पूर्ण ईमानदारी के साथ तल्लीन होना चाहिए, परिवेश उसी समय अनुकूल होगा, समस्याएँ तभी समाप्त होंगी, जब रचनाकार एक स्तर पर पूरी स्वीकृति के साथ वास्तविकता को झेलते हुए, दूसरे स्तर पर उसे बदलने का भी उपक्रम करेगा, परिवेश के ऊपर उठेगा।

दूसरा अध्याय

कलाकार की सृजनशीलता और राजनीति



राजनीति

राजनीति शब्द अंग्रेजी के पॉलिटिक्स (Politics) शब्द का पर्याय है। पश्चिम से आया यह शब्द पूर्व में 'राजधर्म' तथा 'राजशास्त्र' का ही पर्यायवाची है। यह पॉलिटिक्स शब्द यूनानी भाषा के पॉलिस(polis) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'नगर' या 'नगर-राज्य'। इसका भावानुवाद होता है 'नगर समुदाय'। यहसामान्य बोलचाल की भाषा में 'राजनीति' शब्द से प्रयुक्त होने लगा।

प्राचीन भारत में 'राजनीति' शब्द का निर्माण संस्कृत के 'राज' और 'नीति' - इन दोनों शब्दों के योग से हुआ है। प्रायः राज से राज्य तथा नीति से नियम अर्थ लगाया जाता है। 'नीति' शब्द 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ है, किसी को किसी ओर ले जाना। अथवा मार्ग प्रदर्शन करना।

समकालीन परिप्रेष्य में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग बहुतार्थी में किया जाता है। नीचे तबके के मोहल्ले की राजनीति से लेकर कार्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, विधान सभा, लोक सभा, क्या कहना स्कूलों के छोटे बच्चों के झगडे तक को राजनीति की संज्ञा दी जाती है।

राजनीति शब्द को सम्यक रूप से परिभाषित करना कोई आसान कार्य नहीं है। साधारणतः राजनीति का अर्थ समाज और देश व्यवस्था की नीतियों का सत्ता द्वारा निर्धारण से ही लिया जाता है। डॉ श्यामलाल वर्मा

के अनुसार “राजनीति विशिष्ट प्रकार के अन्तः संबंधों का नाम है। ऊपरी तौर पर वह विशिष्ट मनुष्यों और समुदायों या समूहों द्वारा संचालित होती है, पर वास्तव में वह सर्वत्र विद्यमान है – कहीं स्वतन्त्र परिवर्त्यों के रूप में, कहीं आश्रित या मध्यवर्ती परिवर्त्यों के रूप में ये परिवर्त्य एक ‘सेट’ के रूप में अवस्थित होते हैं। उसमें अनेक आश्रित और मध्यवर्गी परिवर्त्य होते हैं। अब धारणात्मक दृष्टी से ऐसे ‘सेट’को विचार चित्र कहा जा सकता है। राजनीति विशिष्ट परिवर्त्यों का एक विचार चित्र है, जिसे हम विश्लेषण के लिए सामाजिक अन्तः संबंधों की बहुलता में से छांटते हैं। जब हम राजनीति की परिभाषा या व्याख्या करते हैं तो हमारा मुख्य कार्य उस विचार चित्र के परिवर्त्यों की विशिष्टताओं का स्पष्टीकरण एवं सीमा निर्धारण होता है।”¹

राजनीति का मूल संबंध शासन, व्यवस्था या सरकार से है। राजनीति के इसी स्वरूप को ध्यान में रखकर पिनाक एवं स्मिथ ने इसकी परिभाषा दी है – ‘राजनीति’ समस्त शक्तियों से सम्बंधित है, जो राज्य के शासन, उसकी नीतियों तथा कार्यों को संगठित करती एवं गढ़ती है। इस तरह राजनीति किसी भी समाज में उन सभी शक्तियों संस्थाओं तथा संगठनात्मक प्रकारों से सम्बंधित होती है, जो किसी समाज में सुव्यवस्था के साधारण और स्थापना, उसके सदस्यों के सहगामित प्रयोजनों को कार्यान्वित तथा उनके मतभेदों का

¹ डॉ श्यामलाल वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, पृ : 86

समाधान करने के लिए उस समाज में सर्वाधिक अन्तर्भावी तथा अंतिम सत्ता माने जाते हों।¹

राजनीति का संबंध राज्य और शासनतंत्र से है। राज्य और शासन तंत्र पर कैसे अधिकार किया जाए, इनकी सुरक्षा कैसे हो, ये जनहित में किस प्रकार प्रयुक्त किए जाए, इनके माध्यम से देश की सामाजिक व्यवस्था का आधार निहित रहता है। राजनीति का अपना एक उद्देश्य है समाज व व्यक्ति दोनों का एक समन्वित व्यापक हित। इसलिए राजनीति का समाज की समस्त गतिविधियों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गहरा संबंध रहता है।

भारत में राजनीति

भारत में स्वतंत्रता पूर्व का राजनीतिक परिवेश अत्यंत संघर्षमय तथा विकट था। भारतीय जनता विदेशी शासन के शोषण से तंग आ चुकी थी। जनता गुलामी की बेड़ियाँ तोड़कर मुक्त होने के लिए अत्यंत बेचैन थी। इसके बीच दो महायुद्ध हुए त्रासद स्थितियाँ भी पीडादायक बन गईं। अत्यंत त्रासद परिस्थितियों से गुज़रकर यहाँ स्वतंत्रता आन्दोलन अपने चरम-शिखर पर पहुँचा।

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। इस स्वतंत्रता ने भारत के हरेक व्यक्ति में राजनीतिक चेतना की आशा फैलायी। राजनीति राजघरानों

¹ जे. रोलैंड पिनाक एवं डेविड जे स्मिथ, पॉलिटिकल साइंस, भूमिका, पृ : 9

से निकलकर साधारण गलियों तथा सड़कों पर आ गई। फलतः ग्राम तथा शहरों की आम जनता भी राजनीति के क्षेत्र में आ गयी। इससे यहाँ एकता, त्याग, अधिकार की भावना जाग उठी और प्रजातंत्र की स्थापना हुई। जनता ने इस प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था पर पूरा विश्वास किया। उसने पेट भर रोटी तथा अत्याचार विमुक्त स्वच्छंद जीवन का स्वप्न देखना आरंभ किया। लेकिन निराशात्मक परिणाम यह हुआ कि जनता द्वारा चुनी गई प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था अत्यंत त्रासद स्थिति में आ पहुँची। यहाँ की स्थिति पहले से ही अधिक बिगड़ गई। इस व्यवस्था से केवल शासक वर्ग तथा उच्च वर्ग ही लाभान्वित हो गए। वे देश का हित त्याग कर निजी हितों में लीन हो गए। परिणाम स्वरूप देश-भर में एक प्रकार का मोहभंग छा गया। यहाँ की सारी आर्थिक शक्ति, राजनितिक सत्ता एवं बौद्धिक समझ सब शासक वर्ग की मुट्टी में आ गई। समाज में गरीब, अधिक गरीब और अमीर, अधिक अमीर हो गए। देश में शासनतंत्र के स्थान पर अराजकता तथा स्वार्थ का शासन काबिल हुआ। १९७४-७५ में इस राजनीतिक अव्यवस्था अपने चरम पर पहुँच चुकी थी। हड़ताल, जुलूस, घेराव, बंद, तोड़-फोड़ तथा हिंसा दैनंदिन जीवन के अनिवार्य अंग बन गए। इन स्थितियों से निपटने के लिए २६ जून १९७५ ई. को देश में प्रथम बार आपात स्थिति घोषित की गई। आपातकाल के दौरान राजनीति में अपने प्रकार की भ्रष्टता, निरंकुशता, नौकरशाही का वर्चस्व, पुलिस की डंडे राजनीति, मूल्यहीनता, प्रजातांत्रिक संस्थाओं एवं मूलाधिकारों को समाप्ति,

कलाकार, प्रेस और कलम की आवाज़ को बंद और समाप्त करने के अनेक कारणों से पूरे देश में व्यापक असंतोष और आक्रोश की परिव्याप्ति में पुनः भारतीय जन-मानस को गहराई से झिंझोड़ दिया। इस कालखण्ड को भारतीय साहित्यकारों ने भारतीय प्रजातंत्र का अंधा युग नामकरण किया और इस भ्रष्ट राजनीतिक क्षेत्र को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। इसकी सफल अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने अतीत को उचित माध्यम समझा क्योंकि अतीत चाहे इतिहास या पुराण दोनों में राजनीतिक पक्ष अधिक मुखरित हुआ है।

कला और राजनीति

कला और राजनीति का संबंध हमेशा एक बहस का मुद्दा रहा है। एक प्रजातंत्र राष्ट्र के रूप में 'सरकार' हमारे द्वारा बनाई गई एक व्यवस्था है। मंत्री, राष्ट्रपति, संसद सब हमारी भलाई के लिए हम से चुने गए हमारे प्रतिनिधि हैं। वर्तमान मूल्यहीन राजनीतिक माहौल की सारी विरूपताओं, विद्रूपताओं और विसंगतियों को प्रस्तुत करने में समकालीन कला माहिर है। कला और राजनीति का यही एक तीखा संबंध है। आज कला के क्षेत्र में राजनीति एक विवाद विषय बन गया है। एक निश्चित राजनैतिक उद्देश्य न रखते हुए कला का स्वरूप भी नहीं होता है। प्राचीन काल से ही राजनीति ने कला क्षेत्र में अपना प्रभाव डाल दिया था। उस समय लगभग सभी कला शैलियाँ अपने ज़माने के सम्राटों, राजा-महाराजा, बादशाहों के निर्देशन

और संरक्षण में विकसित हुआ था। अतः प्राचीन काल से लेकर आज भी शासक कला का संचालन प्रायः राजनैतिक उद्देश्यों और मान्यताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक समझते थे, जो प्रत्यक्ष रूप से ऐसा न दिखाई पड़ता है, लेकिन परोक्ष रूप में वह हमेशा उसी की ही अभिव्यक्ति करता है। कई कलाकार सत्ता में लिस रहकर और इसका विरोध करते हुए शामिल होता है। दोनों ही राजनीति के दो पहलु हैं। बात यह है की राजनीति से कला को अलग रहने का सवाल ही निरर्थक है।

कलाकार और राजनीति

वर्तमान समाज में राजनीति ऐसा सबल खगोलीय पिण्ड हो गई है जिससे जीवन की सारी दिशाएँ प्रभावित हो रही हैं। आज समाज का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसने किसी न किसी रूप में राजनैतिक दबाव महसूस न किया हो, चाहे गाँव हो या शहर, कर्मचारी हो या व्यापारी, मज़दूर हो या किसान, छात्र हो या नौकरी पेशा लोग, वैज्ञानिक हो या अध्यापक उसी प्रकार समाज के एक अंग के रूप में कलाकार पर भी राजनैतिक दबाव बढ़ रहा है। यह कलाकार जो समाज के महान प्राणी है, आत्मा का शिल्पी और देश को नई दिशा देने वाला मनीषी है, वह नई पीढ़ी में सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में उत्साही रहते हैं। इसलिए ही कलाकार हर युग में राजनीति से टकराता रहता है। राजनीति कभी-कभी उसे फूल देता है तो कभी शूल भी देता है। कभी-कभी इनमें कुछ कलाकार राजनीति के इंद्रजाल

में फँसकर अपने स्वत्व का ही नहीं अपने को इस्तेमाल होने की दयनीयता से ही अभिशप्त होते हैं। वे आजीवन इस तरह की प्राणघात से उभर नहीं पाता। प्रसिद्ध साहित्यकार नागार्जुन के शब्दों में – “मौजूदा शासन के अन्दर सर्वशतः राज्याश्रय सच्चे साहित्यकार के लिए ठंडी कब्र है यानी प्राण शोषक समाधि। इस अवस्था में किसी भी लेखक के लिए सत्ता के विशालकाय पंजों से स्वयं को मुक्त रखना बहुत सरल नहीं होता।”¹ जब वह इस जाल से मुक्ति पाने के लिए दूसरी शक्ति का सहारा लेता है, तो वहाँ भी कोई विशेष फर्क नहीं होता।

कलाकार की सृजनात्मकता और राजनीति

एक कलाकार की सृजनात्मकता में उनके परिवेश का योगदान विवरणातीत है। कलाकार किसी व्यक्ति, घटना, समूह संस्कृति या विषय जैसे परिवेशगत साधनों से प्रेरित होकर अपनी संवेदना एवं सृजन क्षमता के द्वारा सृजन-कार्य करते हैं। कभी-कभी ये परिवेशगत शक्तियाँ इनके स्वच्छंद सृजन के लिए लाभदायक सिद्ध होती हैं तो कभी-कभी ये इस के लिए टकराहट या बाधा भी पहुँचाती हैं।

कलाकार शासक के रूप में

राजनीति और कला का परस्पर संबंध रखने पर भी इन दोनों के बीच में आपसी लगाव बहुत अधिक टकराहट पैदा करती है। राजनेताओं

¹ नागार्जुन, मेरी साक्षात्कार, पृ : 52

के बीच कलाकार और कलाकारों के बीच राजनेता ऐसी स्थिति उसकी, सोच, सर्जना और ऊर्जा को खा जाती है। शासनकारी रहने के कारण अकसर वे बाह्य संघर्षों से मुक्त रहते हैं। किन्तु आंतरिक संघर्ष जो है यह किसी न किसी प्रकार उसे सताते रहेंगे। क्योंकि राजनीति और कला दोनों का अलग-अलग अस्तित्व है। इसका अपना अपना धर्म है, दोनों को संतुलित रूप से ले जाना असंभव्य होता है। एक में लगाव, दूसरे का पतन हो जाता है। कला का सच्चे अर्थ में साधना के लिए बिलकुल राजनीति एक बाधा ही है। इस तौर पर यदि कलाकार शासनकारी भी होंगे तो इसमें संदेह ही नहीं होगा कि वे भीतरी संघर्ष से संतुष्ट होंगे। इस अवस्था का स्पष्ट उल्लेख मोहन राकेश का 'आषाढ का एक दिन' में कालिदास द्वारा हमें मिलता है। प्रकृति रमणीय पहाड़ी ग्राम प्रांत में सृजनरतकालिदास का श्रेय उज्जयिनी के राजदरबार तक बढ़ता है। फलतः वहाँ के राजा उन्हें राजकवि का आसन देने के लिए आमंत्रित करते हैं। पहले वह अपनी स्वतंत्रता को कुर्बान करके राजदरबार के बद्ध वातावरण में फंस जाना न चाहता है। ग्राम्य जीवन में पली सीधी सादी, भावुक, सरल मल्लिका के साथ आषाढ की वर्षा में भीगना, उस ग्राम्य वातावरण रत होकर सृजन करना यहीं कुछ उनके मन था। फिर भी अभावों और अपनी प्रेमिका मल्लिका की प्रेरणा के फलस्वरूप वह उज्जयिनी जाने तक के लिए तैयार हो जाते हैं। वहाँ जाकर वे कई नए नाटकों की रचना करते हैं और कई नाटक खेले भी जाते हैं। वहाँ की राजदुहिता प्रियंगुमंजरी से विवाह होते हैं

और वहाँ के राजा भी बनता है। लेकिन राजदरबार की सुख सुविधा और समृद्धि में भी राजकाज और भावुकता के बीच पड़कर वह बड़े संघर्ष का अनुभव करता है - “मैं अपने को बदल लूँ, तो सुखी हो सकता हूँ। परंतु ऐसा नहीं हुआ। न तो मैं बदल सका, न सुखी हो सका। अधिकार मिला, सम्मान बहुत मिला, जो कुछ मैं ने लिखा उसकी प्रति-लिपियाँ देश भर में पहुँच गयी, परंतु मैं सुखी नहीं हुआ।”¹ इन बातों में उनके मन में दमित करते आ रहे आत्म संघर्ष की झलक स्पष्ट होती है। वास्तव में उनकी सृजनात्मकता का मूल स्रोत वही ग्राम प्रांत और प्रेमिका मल्लिका के साथ रहने में था। वैभवों के बीच उनकी बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य हुई। लेकिन उनकी आंतरिक तड़प शिथिल होती रही। यह उन्हीं के शब्दों में व्यक्त होते हैं- “लोग सोचते हैं मैं ने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत कुछ लिखा है। परंतु मैं जानता हूँ कि - मैं ने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। ‘कुमारसंभव’ की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो। ‘मेघदूत’ के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह विमर्दितायक्षिणी तुम हो - यद्यपि मैं ने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें नगर में देखने की कल्पना की। अभिज्ञान शकुन्तलम में शकुन्तलाके रूप में तुम्हीं मेरे सामने थी। मैं ने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-

¹ मोहन राकेश, आषाढ का एक दिन, पृ : 100

फिर दोहराया। और जब उससे हटकर लिखना चाहा, तो रचना प्राणवान नहीं हुई। 'रघुवंश' में अज का विलाप मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति है।"¹

अभावों से मुक्त, सुख, सम्मान, संपत्ति का उपभोग करते हुए भी उनके आंतरिक मन व्यस्त रहते हैं। श्रेय, प्रेय और संपत्ति उनकी सृजन भूमि को संपुष्ट नहीं करते हैं, मगर संकट में लाते हैं। ऐसी मनोदशा में उन्हें ध्यान से सृजन रत होना न पड़ता है और न राजकाज में लीन होना। साहित्य पर राजनीति यहाँ हावी होने लगती है। एक ही बार, जीवन के इन दोनों परस्पर विरोधी क्षेत्रों को अपनाकर वह अपनी 'वास्तविक भूमि' से उखड़कर टूट जाता है, थक जाता है। प्रियंगुमंजरी और मल्लिका के बीच हुए वार्तालाप से कालिदास की इस दशा का स्पष्ट चित्रण देखने को मिलता है। प्रियंगु के शब्दों में – “वे भी जब-तब यहाँ के जीवन की चर्चा करते हुए आत्मविस्मृत हो जाते हैं। इसीलिए राजनीतिक कार्यों से कई बार उनका मन उखड़ने लगता है। ऐसे अवसरों पर उनके मन को संतुलित रखने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। राजनीति साहित्य नहीं है। उसमें एक-एक क्षण का महत्त्व है। कभी एक क्षण के लिए भी चूक जाये, तो बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। राजनीतिक जीवन की घड़ी में बन रहने के लिए व्यक्ति को बहुत जागरूक रहना पड़ता है। --साहित्य उनके जीवन का पहला चरण था। अब वे दूसरे चरण में पहुँच चुके हैं। मेरा अधिक समय

¹मोहन राकेश, आषाढ का एक दिन, पृ : 102

इसी आयास में बीतता है कि उनका बढ़ा हुआ चरण पीछे न हट जाय। --- बहुत परिश्रम पड़ता है इसमें।”¹

सृजनात्मक व्यक्तित्व के लिए राजनीतिक क्षेत्र सदा एक अलग पहचान ही रहेंगा। सृजनात्मकता और राजनीति इन दोनों क्षेत्र में एक साथ कार्यरत होने पर वास्तव में इस व्यक्तित्व को किसी एक में भी सशक्त रूप से क्रियाशील रहना न पड़ता है। सृजन क्षेत्र में भावुकता का अधिक महत्व है। लेकिन राजनीति के क्षेत्र यानी प्रशासन के क्षेत्र में एक प्रशासक के लिए ज्यादातर बौद्धिक रहना पड़ता है। वहाँ भावुकता के लिए कोई विशेष महत्व नहीं होता। इसलिए इन दोनों क्षेत्रों में एक-साथ सफल रहना एक व्यक्ति के लिए सामान्यतः असंभव ही है। राजसत्ता और अधिकार के लिए प्रेरित होने वाले कलाकार वर्ग को चेतावनी देते हुए जैनेन्द्र कुमार ने जो टिप्पणी की वह बिलकुल सार्थक है - “मुझे लगता है कि - राजसत्ता की तरफ ताकने और लपकने वाले या उसका भोग करने वाले विनाश की ओर जा रहे हैं कि उन्हें स्वयं रक्षा की आवश्यकता है।”²

आदर्शवादी एवं सामाजिक प्रतिबद्ध कलाकार

समाज के अन्य किसी तरह के व्यक्ति की अपेक्षा कलाकार अत्यधिक दीर्घदर्शी एवं संवेदनशील होते हैं। इसीलिए ही वह अपने प्रतिभाज्ञान

¹ मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, पृ : 70

² जैनेन्द्र कुमार, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ : 344

एवं अंतर्दृष्टि से समकालीन व्यवस्था की त्रुटियों तथा कमियों को औरों से पहले देख लेता है और अनुभव करता है। अपने इस तीखे अनुभवों से गुज़रते हुए वह चुप नहीं रहता। बराबर इन त्रुटियों और कमियों के विरुद्ध उंगली उठाकर एक आदर्शवादी कलाकार का दायित्व व्यक्त करता है और अपने कलात्मक सृजन द्वारा समाज के लोगों को इन कुरूपताओं की ओर सजग भी बनाता है। समाज में फैली रूढ़ी अव्यवस्था के बदले एक नई प्रभावात्मक व्यवस्था को कायम करने के लिए वह अपनी सारी क्षमता प्रकट करता है। कबीर, तुलसी, सूर इत्यादि सत् पुरुष इस श्रेणी में आते हैं। इसलिए आधुनिक साहित्यकारों ने इन आदर्श पुरुषों को केंद्र कथापात्र बनाकर अपने संदेशों और उद्देशों की सफल अभिव्यक्ति कई नाटकों और उपन्यासों में की है।

‘कबिरा खड़ा बाज़ार में’ ऐसा एक नाटक है, जिसमें ‘कबीर’ को समाज में फैले शोषण, अत्याचार और दमन के खिलाफ लड़ने वाले एक समाज सेवी के रूप में भीष्म साहनी प्रस्तुत करते हैं। समाज में फैले धार्मिक एवं राजनीतिक शोषण और कपटी नेताओं के चंगुल से साधारण जन-समुदाय की रक्षा कबीर अपना लक्ष्य समझते हैं। अनेक प्रकार की यातनाओं और अत्याचारों का सामना करते हुए निर्भीकता से वह इन कुकर्मों के विरुद्ध अपना विरोध कवित्तों के ज़रिए प्रकट करता रहा। उनके एक-एक विद्रोह का बदलाव उनकी पीठ पर कोठों के निशान के रूप में दिखाई देने लगा। फिर भी वह अपने राह बदलने के लिए तैयार नहीं थे।

इनकी कविता गाकर चलते फिरे अंधी भिखारी की मौत उन्हें विवश बनाती है। कबीर यह जानता है कि अंधे भिखारी को जो सज़ा दी गई वह उन्हें चेतावनी देने के लिए ही है। “कोतवाल तो यही चाहता है कि – हम चुप हो जाए, हमारी आवाज़ बन्द हो जाए, पण्डे-मौलवी भी यही चाहता है। नहीं रैदास जी, अब हम मिलकर अपने कवित्त गायेंगे, गली बाज़ार में गायेंगे, गली बाज़ार में गायेंगे, समागम करेंगे, हम सत्संग लगायेंगे।”¹ कबीर के इस अटल मनोभाव शासक वर्ग को अधिक क्रुध बनाता है, वे उनकी झोंपड़ी में आग लगाते हैं। इस आग में उनकी दोनों खड्डियाँ जली जाती है, जिससे वह अपनी आजीविका कमाती थी। इतना होकर भी कबीर का आदर्शवादी मन एक क्षण के लिए भी हिचकता नहीं है। वह कहता है – “आज नहीं होता, कल होता। एक दिन यह होना ही था।”² इस प्रकार इस नाटक के आदि से अन्त तक एक सामाजिक प्रतिबद्ध आदर्शवादी कलाकार के निर्भीक व्यक्तित्व का व्यक्त चित्रण हुआ है। “सक्रिय चेतना युक्त व्यक्तित्व अपने समय में अनेक मोर्चों पर संघर्ष करता हुआ भले ही मिट जाए लेकिन उसकी चेतना कई व्यक्तित्वों में प्रज्वलित हो उठती है, जो पीढ़ी हर युग के संघर्षों में निरंतर सक्रिय रूप में दृष्टिगोचर होती है।”³

¹ भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाज़ार में, पृ : 44

² भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाज़ार में, पृ : 54

³ अशोक हजारे, माधव सोनटक्के, समकालीन परिवेश और प्रासंगिक रचना संदर्भ, पृ : 35

सामाजिक सरोकार से जुड़े कलाकार का दूसरा नमूना है कोणार्क का धर्मपद। इस नाटक में चालुक्य समाज के सत्ताधारी का प्रतिनिधि है, जो अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए नाना प्रकार की दमन नीतियों के सहारे लोगों को अपने आज्ञानुकारी गुलाम बनाये रखने पर सतर्क रहता है। इस दमनकारी नीति के विरुद्ध धर्मपद ऐसे एक विद्रोही का रूप लेकर सामने आता है, जो अत्याचार, अन्याय और अनैतिक व्यवहार का घोर विरोध करके सत्ताधारी के कोप का पात्र बन जाता है। सत्ताधारी के अत्याचार का व्यक्त चित्रण धर्मपद के शब्दों में – “मैं तो एक ऐसे संसार की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ जो कि –आपके निकट होते हुए भी आपकी आँखों से ओझल हो गया है। इस मंदिर में बरसों से १२०० से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित है? जानते हैं आप कि महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की ज़मीन छीन ली है : कईयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ता है, और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है।”¹ अपने चारों ओर घटित अत्याचारों के बीच शांत रहकर मुख्य शिल्पीविशु की भाँती सृजनरत होना वह अपना कर्तव्य नहीं समझता है। उनकी राय में – “मगर यह भी तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हो, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की

¹ जगदीश चन्द्र माथुर, कोणार्क, पृ: 30

मूर्तियाँ ही बनाता रहे।”¹धर्मपद अपने जातवालों के प्रति चालुक्य से किए गए छल, कपट और अत्याचार का साक्षी रहकर इसमें उद्दिग्ध, उत्कंठित और उत्तप्त हो उठता है। अवसर मिलने पर अत्याचारी का पोल खोलने का प्रयास भी करते हैं।

धर्मपद हमारे समाज के उन कलाकारों का प्रतीक है जो समाज में फैले अत्याचार के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाता है, जिसके अन्दर क्रांति की चिंगारी है, प्रतिबद्धता का तेज़ है और सृजनात्मकता की शक्ति है। अन्याय, अत्याचार और शासकीय षड्यंत्रों के खिलाफ जागरित होना और औरों को जागृत करने की चेतना इनमें बेहतर है। संवेदनशील व्यक्ति अक्सर लीक से हटकर चलता है, तथा सामाजिक, राजनीतिक विसंगतियों को निकालने की कोशिश करता है। देशहित के लिए (समाज हित) अपना सर्वस्व न्योच्छ्रावण करने को तत्पर रहता है। समाज में क्रांति का स्वर भर कर दूषित व्यवस्था को बदलने का आह्वान देता है। गरीबी, स्त्री शोषण, वर्ग शोषण, आदि के उन्मूलन का प्रयास करते हुए शासन-प्रशासन से टक्कर लेने की भी हिम्मत इनमें अधिक होती है।

धर्मपद के व्यक्तित्व का बखूबी चित्रण जयदेव तनेजा ने किया है –
“धर्मपद जीवन के आदि और उत्कर्ष में जीवन के संघर्ष को चित्रित करने का अभिलाषी है (जैसे आज का नाटककार)। उसकी वाणी में आज का युग बोल

¹ जगदीश चन्द्र माथुर, कोणार्क, पृ : 30

रहा है। शताब्दियों से पीड़ित – उपेक्षित, मूक जनता की वेदना मुखरित हो उठी है। इसमें साम्राज्य शाही के विरुद्ध जनता की महान शक्ति को उभारा गया है।”¹

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक साहित्यकार जैनेन्द्र कुमार भी इस तथ्य का समर्थन करता है कि –“लेखक चाहे वह आज का भी हो, मन में बिना किसी प्रकार का ध्येय या आदर्श लिये चल नहीं सकता। न उसके लिए अपने आस-पास की घटनात्मक सामयिकता से नितान्त बचे रहना संभव है।”²

प्रतिशोधी कलाकार

मनुष्य समाज से अपना सामंजस्य स्थापित कर चुका है। इस रास्ते में प्रतिशोध उनका एक वैयक्तिक एवं सामाजिक भाव बन गया है। आदिकाल से ही इस समाज में दमित समूह, समुदाय एवं संस्कृतियाँ अपने ऊपर सतत हो रहे दमन के विरुद्ध प्रतिशोध भाव प्रकट कर रहे हैं। अपने स्वतंत्र चिंतन और अभिव्यक्ति के रास्ते में प्रतिबंध होकर खड़े होने वाली भीषण शक्तियों से प्रतिशोध वह किसी न किसी रूप में करते आये हैं। यह प्रतिशोध एक पल में उपजी प्रतिक्रिया नहीं है। निरंतर पीड़ा एवं दमन से मन में हुए उत्पीड़न और संघर्ष से इसका आविर्भाव होता है। संघर्ष कर्म है और स्वतंत्रता उसकी यथार्थ अनुभूति। संघर्षपूर्ण मानस से प्रत्येक रचना की उपज होती है। अतः

¹डॉ. जयदेव तनेजा, हिन्दी नाटक आज-कल, पृ : 104

² जैनेन्द्र कुमार, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ : 347

प्रत्येक कृति के मूल में कृतिकार के क्षुब्ध, विवश, आकुल अशान्त, चित्तावस्था सक्रिय रहती है।

सुरेन्द्रवर्मा कृत 'आठवाँ सर्ग' में कलाकार की प्रतिशोधी भावना की झलक देखने को मिलती है। नायक कालिदास को अपनी अनुपम कृति 'कुमारसंभव' को, परिस्थितियों एवं सत्ता के दबावों में आकर आठवें सर्ग पर अधूरा छोड़ना पड़ता है। यह उनके सृजन मानस को अत्यधिक चोट पहुँचाता है। वह आत्मविस्फोटित होकर कहता है –“कुमारसंभव को मैं अधूरा छोड़ दूँगा, आठवें सर्ग पर --- आगे नहीं लिखूँगा। इस रचना को एक प्रकार से भुला ही दूँगा। यह कभी मेरे घर से बाहर नहीं निकलेगी। किसी गोष्ठी में इसका पाठ नहीं होगा। किसी तक इसकी प्रतिलिपि नहीं पहुँचेंगी।”¹ इसके बाद उनका मन अतीव व्यस्थ रहते हैं, लेकिन अपने सृजन कार्य को छोड़ना वह नहीं चाहता हैं। वह राजधानी से पच्चास कोस दूर एक कुटीर में रहकर 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' की रचना करते हैं। इस रचना द्वारा वह जन सामान्य में जड़ जमाकर, सत्ता के सामने विराट हो जाता है। सृजन से उपजे आंतरिक संतोष उनके लिए बाकी सब बाह्य सम्मानों से बेहतर था, इसके साथ एक कलाकार कला द्वारा जन सम्मत हो जाना यह भी उसे संवेदना और जीवन की ऊँचाई तक ले जाती है। मदनोत्सव के दिन अभिज्ञान शाकुन्तलम की स्वर्ण जयन्ती पर शासन द्वारा दिए गए सम्मान

¹ सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 58

को अस्वीकार करके वह अपने प्रतिशोध प्रकट करता है। तीन वर्ष पहले हुए अपमान का बदला लेने के लिए कालिदास शासन द्वारा आयोजित अपने अभिनन्दन समारोह का बहिष्कार करता है और सत्ता के सामने बड़े विश्वास के साथ कहता है, - “जीवन के एक मोड़ पर सत्ता की सहायता की आवश्यकता थी --- अब नहीं है।---(ठहरकर) अब? --अगर शासन मेरी रचना पर यहाँ रोक लगाएगा, तो वह दूसरे राज्य में सप्तम सुर में सुनी जायेगी। मुझे बन्दीगृह में डाल देगा, तो संकीर्ण बुद्धि और कुटिल मन कहलायेगा। और अगर मेरी हत्या कर देगा, तो लोकमत उसके विरुद्ध आषाढ़ के पहले काले-कजरारे मेघों के समान भड़क उठेगा।”¹

डॉ. गिरीश रस्तोगी ने इस नाटक को सामयिक संदर्भों से जोड़कर, विशेष महत्वपूर्ण रचना मानते हुए कहा है “उन्होंने (सुरेन्द्र वर्मा) कालिदास की साहित्यिक रचना की उत्कृष्टता को दिखाते हुए उसकी इतनी व्यापक जनस्वीकृति दिखाई कि – उसकी रचनाशीलता के सामने शासन स्वतः तुच्छ हो गया और कालिदास की रचना अपने रचना मूल्यों में अत्यंत विराट सिद्ध हुई। आठवाँ सर्ग इसी विराट सत्य और आस्था का नाटक है।”² यहाँ कालिदास के द्वारा चित्रित प्रतिशोध आपातकालीन परिस्थिति से उपजे नाटककार का अपना ही प्रतिशोध है।

¹ सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 72

² डॉ. गिरीश रस्तोगी, समकालीन हिन्दी नाटककार, पृ : 126

कलाकार के प्रतिशोध की अगली एक पहचान जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक में हुई है। इस नाटक में सत्ता की स्वार्थ एवं उन्माद अवस्था के प्रतीक बनकर आता है चालुक्य नामक पात्र, जो उत्कल नरेश नरसिंह देव की राजसभा में महामंत्री के पद पर प्रतिष्ठित है। जब नरसिंह देव बंग प्रदेश में यवनों को पराजित करने में लगे रहते हैं तब राजनगरी का प्रशासन चालुक्य अपने हाथों से संभालते हैं। सत्ता के अधिकार द्वारा वह देश के साधारण लोगों को ही नहीं, अपितु अपने राजा को भी षड्यंत्र करके अपने अधीन करने की कोशिश करता है। कोणार्क मंदिर के निर्माण कार्य के लिए नियोजित शिल्पी भी उनके क्रूर व्यवहार का शिकार बन जाता है। उन्हें अपने परिवार के सदस्य से अलग किया जाता है, जीवन की ज़रूरी चीज़ों से उन्हें वंचित किया जाता है। कलश स्थापना को लेकर चिंतित, कला के प्रति पूर्ण समर्पित महाशिल्पी विशु पर भी चालुक्य का आक्रोश स्वर उठता है – एक सप्ताह के भीतर यदि कलश स्थापित नहीं हुआ तो शिल्पीयों के हाथ काट लिया जायेंगे।

जिस समय कला शासको और सामंतो के मनोरंजन के साधन मात्र मानी जाती है और कलाकार उस साधन के निर्माण में काम करने वाले स्वत्वहीन और आकांक्षाहीन यंत्र ठहराये जाते हैं, उस समय कलाकार के मन में भरने वाली वेदना, आत्मपीड़ा, आत्मनिन्दा आदि प्रबुद्ध होकर उनकी सर्जनात्मक काबिलियतों को भी नष्ट भ्रष्ट करके सर्वनाश कारी ध्वंसात्मक

कार्य में परिणत हो जाती है। यह स्वाभाविक भाव परिणाम विशु में भी देखा जाता है – विशु स्वयं पूँछता है – “ओ अभागे कारीगर, कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार?”¹

जब महामात्य चालुक्य षड्यंत्र करके उत्कल नरेश को हराकर शासन का बागडार अपने हाथों में संभालने के लिए कोणार्क मंदिर को चारों ओर से घेर लेते हैं तब धर्मपद द्वारा कलाकार का, कोणार्क मंदिर का, कला का और स्वयं विशु का आत्म सम्मान जाग उठता है, वह मन ही मन में निर्णय कर लेता है कि- अपनी पवित्र कला साधना को, इस अत्याचारी के अपवित्र हाथों में नहीं जाने देंगे। ‘कोणार्क’शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं बना देगा। वह चुम्बक के बल पर टिके मंदिर के गर्भ गृह में घुस कर उस चुम्बक को तोड़ना शुरू करता है। एक भयानक विस्फोट के साथ स्वयं विशु, अत्याचारी चालुक्य, उनके सैनिक सब एक ही पल में उसके नीचे दबकर मर जाते हैं। मृत्यू के अंतिम क्षणों में विशु के चेहरे पर दिव्य शांति और वाणी में अलभ्य तृप्ति भरी रही – “प्रतिशोध --- मेरे देवता! --- मेरे दिवाकर, शिल्पी का प्रतिशोध ---।”² उनकी प्रतिशोधाग्नि में अपनी महनीय कृति का भी नाश हो जाता है।

¹ जगदीश चन्द्र माथुर, कोणार्क, पृ : 64

² जगदीश चन्द्र माथुर, कोणार्क, पृ : 67

यहाँ ध्यान रखने की बात यह है की अपने चारों ओर घटित अत्याचारों से विमुख होकर अपने सृजनकार्य मात्र में तल्लीनशिल्पीविशु ने ही अंत में अपनी सृजन साधना को तोड़कर सत्ता के प्रति प्रतिशोध व्यक्त किया है। सत्ता के दुरव्यवहार की गहरता ही इसमें स्पष्ट होती है।

वह कलाकार का शाश्वत अन्तर्दहन का प्रतीक है। डॉ. गोविन्द चातक के शब्दों में “कोणार्क कला का भाष्य है; उसे कलाकार का अन्तर्दहन की अपेक्षा अंतर्दर्शन भी कहा जा सकता है किंतु वह मूलतः दो तत्वों के समन्वय से उपजी कृति है, जिसमें इतिहास और जनश्रुति, स्वप्न और सत्य, भावना और तर्क, व्यष्टि और समष्टि अतीत और वर्तमान एकात्म हुए दीखते हैं। वह समकालीन सर्जन पर एक दृष्टि बिंदु है।¹

भीष्म साहनी का पहला नाटक ‘हानूश’ भी शासन व्यवस्था के प्रति कलाकार के प्रतिशोध का एक अनूठा मिसाल है। इसमें ‘हानूश’ नामक कलाकार अपनी पूरी ज़िन्दगी खपाकर एक अनूठी घड़ी बनाता है। इस घड़ी की अपूर्वता, राजा का ध्यान आकृष्ट करता है। राजा, कई तोहफों से हानूश का सम्मान करता है। साथ ही साथ अनुदार पूर्वक उनकी दोनों आँखें निकाल देने की आज्ञा भी देता है, ताकि ऐसी कोई दूसरी घड़ी कभी न बनायी जाय। इतना ही नहीं हानूश किसी दूसरे राज्य में जाकर ऐसी कोई रचना न करे, इसके लिए उसे देश छोड़कर जाने पर प्रतिबंध भी लगाता है।

¹डॉ. गोविन्द चातक, नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर, पृ : 32

अपने और अपनी- कला दोनों को अंधा बना लिये राजा के प्रति हानूश के मन में घृणा एवं विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है। इसका बदला लेने के लिए उन्होंने अपने एक शिष्य को घड़ी के निर्माण का रहस्य सिखा दिया और अधिकारियों की आँख बचाकर, कई कठिनाइयाँ झेलकर उसे देश के बाहर भेज देता है। इतने में उनके विद्रोही मन आश्वस्त होकर कहता है “--- घड़ी बन सकती है, घड़ी बन्द भी हो सकती है। घड़ी बनाने वाला अन्धा भी हो सकता है, मर भी सकता है। लेकिन यह बहुत बड़ी बात नहीं है। जेकब चला गया ताकि घड़ी का भेद ज़िन्दा रह सके, और यही सबसे बड़ी बात है।”¹ हानूश एक भोला और कला के प्रति अपने को समर्पित कलाकार था। इस घड़ी बनाने के लिए उसने जीवन के भरपूर सत्रह साल व्यतीत किये थे। घड़ी बनने के बाद उन्होंने इसका उपयोग अपने लिए नहीं किया। इस घड़ी का पूरा अधिकार एवं श्रेय महाराजा के कदमों पर समर्पित करते हैं। इतने करते हुए भी अपने ऊपर पड़े अन्याय पर वह विसंगत होकर परोक्ष रूप से बदला देता है। ‘हानूश’ नाटक का कथाविन्यास, भीष्म साहनी की कल्पना से उत्पन्न नहीं है, बल्कि सदियों से कलाकार के जीवन में घटित होने वाले अत्याचार, अनाचार का प्रतीकात्मक उदाहरण है। शासन व्यवस्था के क्रूर व्यवहार में कलाकार के जीवन और सृजनात्मकता की बिगड़ती स्थिति प्राचीन काल से लेकर आज के इस युग में भी मौजूद है।

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ : 129

सत्ता और कलाकार

राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण एवं ताकतवर अंग है सत्ता। राज्य के सुशासन के लिए निर्मित इस सत्ता की राजनीति आज अत्यंत घृणित एवं आलोचनात्मक बन गयी है। साहित्यकार राजेन्द्र यादव के अनुसार – भारतीय राजनीति में सत्तांध धृतराष्ट्र आ गए हैं, जो अनपढ़, बेरोज़गार लंपट और गुण्डों की फौजे तैयार करके सत्तासीन होना चाहते हैं। जिन्हें वे आज अपनी तोपों में बारूद की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं।¹ सत्ता आदमी को स्वार्थी एवं उन्मादी बनाती है। अधिकार, और पद में स्वयं भ्रमित इन अधिनायकवादी, तानाशाही वर्ग ने राजनीति को निरंकुश बना दिया है। जनता के हित और शुभ के लिए प्रतिष्ठित ये अधिकारी वर्ग ही आज सत्ता के बल पर इसकी स्वतंत्रता एवं समता का हनन करते हैं। जब इन शक्तियों द्वारा समाज के साधारण जन विभाग का जीवन संघर्षपूर्ण एवं असंतुष्ट होते तब समाज के लिए स्वयं अर्पित संवेदनशील, सृजनात्मक व्यक्ति छुपसे देखते नहीं रहते, वह समाज की इन विध्वंसात्मक शक्तियों के विरुद्ध अपना तलवार चलाकर जनशक्ति को जागृत एवं उत्तेजित करने का प्रयास करता है। सत्ता की प्रबल शक्तियाँ अपने विरुद्ध उठने वाले किसी भी विद्रोह को एक सामूहिक विद्रोह बनने से पूर्व ही हटाने की चेष्टा करती रहती हैं। सत्ता और कलाकार के मनोभावों के बीच की इस आपसी विरुद्धता का संघर्ष सदियों से चलता आया

¹ अजय नावरिया (सं), यातना, संघर्ष ---- स्वप्न, पृ : 36

है। इसे कई साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में शब्दबद्ध किया है। इसका एक मिसाल है नाटक, 'आषाढ का एक दिन'। इस नाटक के पहले अंक में ही मोहन राकेश ने सत्ता का प्रतिनिधि दन्तुल, कलाकार का प्रतिनिधि कालिदास दोनों के वैचारिक मत भेद को व्यक्त किया है। दन्तुल द्वारा घायल हुए हरिणशावक के संबंध में इन दोनों के बीच संघर्ष होता है। अपने बाण से आहत हुए हरिणशावक को दन्तुल अपनी संपत्ति समझते हैं। उनके अनुसार राजपुरुषों के अधिकार बहुत दूर तक जाते हैं। उनके अपराध का निर्णय करने का हक किसी को भी नहीं है। यह अधिकारीवर्गों की एक विशेषता है, जो राज्य, राज्य संपत्ति और वैभव सब अपने अधिकार की परिधि में समझते हैं तथा जनता जो है उन्हें दमित करने के लिए और उनके आज्ञानुसारी मात्र। क्रूरता और दंभ उनके विचारों और प्रवृत्तियों में प्रकट होता है। यहाँ दन्तुल का साधिकार प्रवेश, हिंसकवृत्ति, कठोर हृदय, कठोर वचन, अहंकार, अधिकार लिप्सा और असंयमित भाषा सब उस वर्ग की मनोवृत्ति का सफल उदाहरण है। लेकिन कालिदास उनकी बातों से डरता नहीं है। वह हरिणशावक के विषय में अधिक भावुकता से चिंता करता है। यह एक कलाकार होने के नाते उनकी मानवीय संवेदना और संवेदनशील हृदय का नतीजा है। कलाकार का व्यक्तित्व मल्लिका के इन शब्दों में उभरता है, "ठहरो, राजपुरुष! हरिणशावक के लिए हठ मत करो। तुम्हारे लिए प्रश्न अधिकार का है, उनके लिए संवेदना का, कालिदास निःशस्त्र होते हुए भी तुम्हारे शस्त्र की चिंता नहीं करेंगे।"¹

¹ मोहन राकेश, आषाढ का एक दिन, पृ : 20

यह एक सच्चे कलाकार की विशेषता है जो सत्ता के बल पर ध्यान रहते हुए भी अपने कलात्मक प्रवृत्तियों एवं कर्तव्यों से विमुख न होता, सत्ता के भय से निजी व्यक्तित्व को दमित करने के लिए भी वे तैयार नहीं होते।

स्वार्थ नीति और भ्रष्टाचार

आज हमारी राजनीति में जितना अधिक छल, छद्म प्रधान आचरण चल रहा है, जिसके फलस्वरूप वर्तमान युग का पर्याय 'भ्रष्टाचार युग' बन गया है। क्योंकि ये छल, कपट, स्वार्थ, संकीर्णता, लोभ और मोह का आचरण, सदाचरण की श्रेणी में नहीं आते हैं। ये जो है भ्रष्टाचरण का ही प्रमुख भेद है। सत्ता ही, समाज में फैले ऐसे आचरण का मुख्य कारण है। राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण अंग के रूप में खड़ी सत्ता के बल पर अधिकारी वर्गों ने ऐसे आचरण द्वारा राजनीति के यथार्थ अर्थ को संकुचित बना दिया है। ऐसीविरूपताओं का पर्दाफाश करने वाली एक रचना है भीष्म साहनी का नाटक 'हानूश'। अधिकार के नशे में उन्माद और स्वार्थी हो जाने वाले शासक वर्ग के प्रतीक बनकर आता है इसका महाराजा। वह कभी भी जनता का सेवक नहीं बनना चाहता है। जनता पर शासन करना, रॉब जमाना, यही उनका लक्ष्य है। इसलिए जीवन के सत्रह वर्षों की संघर्षपूर्ण परिस्थितियों को झेलते हुए बनायी घड़ी के निर्माता 'हानूश' पर वह अपने भ्रष्ट आचरण का बाण चलाता है। घड़ी की अपूर्वता पर वह अपना संतोष प्रकट करता है, लेकिन अपने देश का श्रेय बढ़ानेवाली घड़ी,

अन्य दुसरे राज्यों में भी शोभा देना, वह पसन्द नहीं करता है। अगर शहर-शहर घड़ियाँ लगेगी तो इसी घड़ी की अहमियत ही क्या होगी, यही उनका विचार है। राजा के मन में अपनी स्वार्थी भावना के अलावा कला और कलाकार की चिंता अल्पमात्र के लिए ही नहीं उभरती है। उनके समक्ष क्या कला?, क्या कलाकार? सभी समान है। कला और कलाकार की कोई विशेषता तो नहीं। यदि कलाकार, कला के नाम पर कोई अमूल्य या अपूर्व सृष्टि करें, तो इसका लाभ और अधिकार सब शासक के लिए होना चाहिए। यह हर युग का यथार्थ है। राजा की स्वार्थ नीति कलाकार हानूश पर अपना काला हस्त फैलाता है “अगर हमारी राजधानी की रौनक बढ़ाने के लिए इस घड़ी को बनाया गया है तो फिर दूसरी घड़ी बनाने का मतलब? यह आदमी सिर्फ एक ही घड़ी बनाएगा, और यही वह घड़ी होगी जिसे वह बना चुका है। इसे कोई भी और घड़ी बनाने की इजाज़त नहीं होगी। अगर हमें पता चला कि यह कोई और घड़ी लुक छिपकर बना रहा है तो इसे हम कड़ी सज़ा देंगे”¹ -- यह संदेह उन्हें अधिक रोषाकुल बनाते हैं। उनके अनुसार राज्य में सब काम सरकार की इजाज़त से होना चाहिए। हानूश ने सत्रह साल की सृजन यात्रा में इसकी परवाह भी नहीं की थी। लेकिन वर्षों के परिश्रम से उपजी घड़ी राजा को समर्पित करता है - “हुज़ूर, यह आप ही की दौलत है, आपको ही नज़र करने के लिए बनाई है।”² इतने

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ : 97

² भीष्म साहनी, हानूश, पृ : 98

में भी राजा संतुष्ट नहीं होता है। उनकी सोचमें राजा से लोगों का छिपकर काम करना शासन की स्थिरता के लिए कभी भी उचित नहीं होगा। उनकी राय में, “जो आदमी बरसों तक छिपकर घड़ी बना सकता है वह छिपकर आगे भी घड़ी बना सकता है। एक घड़ी बनाने से इसका लालच बढ़ गया है।”¹ आगे – “हमें नगरपालिका से कहीं ज्यादा एतबार हानूश कुफलसाज़ पर है। इस आदमी को और घड़ियाँ बनाने की इज़ाज़त नहीं होगी। इस हुक्म पर अमल करवाने के लिए --- (थोड़ा ठिठककर) हानूश कुफलसाज़ को उसकी आँखों से महरूम कर दिया जाए उसकी आँखे नहीं होगी तो और घड़ियाँ नहीं बना सकेगा।”²

सत्ताधिकारी अपनी इच्छा और ज़रूरतों के मुताबिक शासन व्यवस्था का ढाँचा तैयार करते हैं, जिसमें कलाकार, वगैरह को कोई स्थान नहीं होता। इस अवसर पर उसका अनुशासित होना, नियंत्रित होना सब एक स्वाभाविक क्रिया बन जाता है। अपनी शक्ति को बनाये रखने के लिए सत्ता किस प्रकार आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष और विरोध का फायदा उठाकर अपना उल्लू सीधा करती है; किस तरह वह कला और कलाकार का इस्तेमाल अपने निजी हितों की रक्षा के लिए करती है और उसके सामने बड़े से बड़ा कलाकार कितना विवश और निरीह है,

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ : 98

² भीष्म साहनी, हानूश, पृ : 98

इस सबका प्रतुतिकरण इसमें हुआ है।¹सत्ता के भ्रम में पड़े सत्ताधीशों के शोषण करने की ऐसी वृत्ति आदि काल से होकर चल रही है। सत्ता की इस दमन नीति का मिसाल जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' नाटक में कोणार्क मंदिर के निर्माण के लिए बरसों से काम कर रहे शिल्पीयों की ज़मीन छीन करके, उनकी स्त्रियों को दासियों की तरह काम कराते और अंत में 'एक सप्ताह के भीतर यदि कलश स्थापित नहीं हुआ तो शिल्पीयों के हाथ काट लिया जायेगे' ऐसी धमकी से, चालुक्य नामक महामंत्री के द्वारा व्यक्त होता है, 'आठवाँ सर्ग' में कालिदास की अभिव्यक्ति स्वतंत्रता पर पाबंदी डालना शासक के अमानवीय व्यवहार और उनकी अन्धी नीति का दृष्टांत है।

दमन नीति

आज सत्ता की दमन नीति, राजनीति का एक मुख्य पक्ष बन गया है। जब शोषित वर्ग सत्ता की अन्याय पूर्ण और आततायी स्थिति के विरुद्ध लड़ने के लिए तथा अपने अधिकारों के प्रति सजग रहकर संघर्ष रत होता है, तब यह 'दमन नीति' पूर्वाधिक शक्ति के साथ उनपर अपना प्रभाव डालती है। सत्ता को बनाये रखने के लिए बेवफादारी और अन्याय का सहारा लेता है। उनका एक मात्र लक्ष्य अपनी कुर्सी से चिपके रहते हुए पद, ओहदे को बनाये रखना। इन सत्तालोलुप अत्याचारी वर्गों का प्रहार समाज के कलाकार, बुद्धिजीवी वर्गों पर भी पड़ते हैं। अपनी स्वार्थ लिप्सा एवं

¹ डॉ जयदेव तनेजा, हिन्दी नाटक आज-कल, पृ : 82

कुर्सी की स्थिरता के लिए सेंसरशिप के नाम पर वह कलाकारों के स्वतंत्र सृजन पर प्रतिबंध लगाता है।

इस प्रकार सेंसरशिप को हथियार बनाकर कलाकार पर रोक लगाने वाली सत्ता की दमन नीति को रेखांकित करने वाली एक सफल रचना है सुरेन्द्र वर्मा कृत 'आठवाँ सर्ग'। श्लील, अश्लील द्वारा कलात्मक कृतियों को बाँटने की प्रवृत्ति इस सेंसरशिप में फैला है। तथा इसके समर्थन के लिए न्यायालय और कानून की व्यवस्था को प्रस्तुत करता है। इस व्यवस्था द्वारा वे कलाकारों को न्यायालय के कठघरे में अपराधी सिद्ध करके घोषित कर देता है कि - न्याय हो गया। वह यह बात भूल जाता है कि जब किसी कलात्मक कृति पर रोक लगाई जाती है तो इसका निर्णय कलात्मक सिद्धांतों से किया जाना चाहिए। 'आठवाँ सर्ग' नाटक में कालिदास द्वारा रचे गए 'कुमार संभव' के आठवाँ सर्ग को, शत्रुओं के षड्यंत्र के फलस्वरूप महाकाल मंदिर के पूजारी अश्लील मानकर क्षुब्ध होकर चला जाता है, क्योंकि इसमें शिव-पार्वती के श्रृंगारिक वर्णन भरा हुआ है। शासन पद पर प्रतिष्ठित राजा चन्द्रगुप्त अपने सुचारू प्रशासन में बाधा न पहुँचाने के लिए जनता की धर्म भावना की रक्षा के बहाने कालिदास को क्षमा याचना करने के लिए बलपूर्वक विवश कर देता है। इस प्रकार श्लील -अश्लील, नैतिकता-अनैतिकता के संघर्ष सत्ताधारी और रचनाकार के संघर्ष में परिणत हो जाता है। एक रचनाकार की पीड़ा को शासन व्यवस्था के कठोर

रूप का मज़ाक तब किया गया है जब आठवाँ सर्ग की अश्लीलता पर निर्णय करने के लिए धर्माध्यक्ष द्वारा न्याय समिति गठन करने की बात कही जाती है। इस न्याय समिति में संपन्न व्यावासायिक दिवाकर दत्त, आयुर्वेदाचार्य और न्यायाधीश का वरण किया जाता है। रचनाकार कालिदास इस न्याय समिति के सदस्यों के विरुद्ध खड़ा हो जाता है क्योंकि कलात्मक मूल्य और इसकी नीति एक दूसरे से भिन्न होते हैं। वह इसके विरुद्ध आपत्ति उठाता है कि -“क्या न्याय समिति के सदस्यों में काव्य शास्त्रीय अध्ययन, परिष्कृत सौन्दर्यबोध भाव प्रवण संवेदनशील सूक्ष्म दृष्टि होगी? अंतिम में न्याय समिति द्वारा ‘कुमार संभव’ के ऊपर बंधन लगा दिया जाता है। धर्माध्यक्ष: “जहाँ तक मैं समझता हूँ, समिति यह चाहेगी कि इस काव्य का, कभी किसी सभा या गोष्ठी में पाठ न हो। राजकार्य प्रतिलिपि कार्यालय में इसकी प्रतिलिपियाँ तैयार न की जाएँ, इसका विक्रय न हो और किस नागरिक के यहाँ भी प्रति पाई जाए उसे नियमानुसार दंड मिले”¹ --- यह न्याय विधि सच्चे अर्थ में गलत है। क्योंकि न्याय के लिए वे ऐसा निष्कर्ष चुन लिया गया है, जो कला के क्षेत्र में लागू नहीं हो सकेगा। ताकि कलात्मक कृति के मूल्य का निर्णय स्वयं कलाकार के अतिरिक्त और कोई भी नहीं कर सकता। इस नाटक में सम्राट चन्द्रगुप्त, धर्माध्यक्ष आदि सत्ता की प्रबल शक्तियों के टकराव के पश्चात् कालिदास अपमानित, पराजित, उदास और अपने आपको अकेला अनुभव करता है। जो केवल कालिदास का अनुभव नहीं है,

¹ सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 47

श्लील -अश्लील, नैतिक-अनैतिक के नाम पर सत्ता के सेंसरशिप में अपनी अमूल्य कृति को रास्ते में छोड़ने के लिए प्रेरित होने वाले अनेकों कलाकारों का अनुभव है, जिसे राजनीति की ऐसे कटु दमन नीति का सामना करना पड़ता है। डॉ. जयदेव तनेजा ने इस पहलु पर अपना मत यों प्रकट किया है – “महाकवि ‘कुमारसंभव’ के विवादास्पद आठवे सर्ग’ के उद्दाम शृंगार चित्रण की श्लीलता-अश्लीलता के बहाने से यहाँ नाटककार ने समसामयिक राजकीय सेंसरशिप की उस ज्वलंत समस्या को उठाया है – जिसका शिकार पिछले वर्षों में भारतवर्ष के अनेक प्रतिभावान रचनाकार होते रहे हैं।”¹ यहाँ चन्द्रगुप्त की मानसिकता एक शासक की मानसिकता है। वह यह जानता है कि राज्य की सहायता के बिना रचनाकार का कोई महत्व नहीं है - “मत भूलो कि रचनात्मक प्रतिभा अपने आप में अधूरी है, क्योंकि रचना को प्रकाश में लाने के लिए, उसके प्रचार और प्रसार के लिए, उसकी स्वीकृति और मान्यता के लिए कुछ माध्यमों की आवश्यकता होती है --- माना कि तुम एक से एक उत्कृष्ट रचनाएँ लिखोगे, लेकिन यदि राज्य की सहायता नहीं मिली तो वे दादुर टर्-टर् की तरह आजीवन कुएं में ही रहेंगी।”²

‘आठवाँ सर्ग’ सुरेन्द्र वर्मा के प्राचीन प्रसंग के माध्यम से आधुनिक जीवन को प्रक्षेपित करने वाला श्रेष्ठ नाटक है। ऐसा रचनाकार किसी

¹ डॉ. जयदेव तनेजा, हिन्दी नाटक आजकल, पृ : 52

² सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 57

प्राचीनता के मोह से ग्रस्त नहीं होता, प्राचीनता को अपने समय के ज्वलंत प्रश्नों की व्याख्या के लिए ही स्वीकार करता है।¹ आठवाँ सर्ग के द्वारा सुरेन्द्रवर्मा यह दिखाना चाहता है कि – कालिदास की तरह आज का रचनाकार भी व्यवस्था की सीढियों पर एड़ियाँ घिस घिस कर दम तोड़ने के लिए विवश है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति को कोई समझने के लिए तैयार नहीं। यह भी ध्यान देना चाहिए कि सुरेन्द्रवर्मा ने आठवाँ सर्ग की रचना देश की आपातकालीन परिस्थिति में की थी। तादात्म्य यह है कि लोकतांत्रिक नैतिक और कानूनी परंपराओं व नियमों को ताक में रखकर, जब अपनी सत्ता का आसन डगमगाता हुआ दिखाई देने लगा तो सत्ता पर बने रहने के लिए प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने आपात काल की घोषणा कर दी थी।

इतिहास के विभिन्न तथ्यों से यह स्पष्ट: स्वीकार्य हो जाता है कि प्रत्येक युग की सत्ता और व्यवस्था कलाकारों को अपने चारण बनाने का सुनियोजित प्रयत्न करते रहते हैं। कभी यह दमन नीति दण्ड के रूप में होती है तो कभी पुरस्कार के रूप में। पद, पुरस्कार जैसे धमकी प्रलोभन से इन कलाकारों की चेतना को गुलाम बनाने का कुचक्र रचा जाता है। इसका प्रमाणिक चित्रण भीष्म साहनी का नाटक 'हानूश' में हुआ है। हानूश से निर्मित घड़ी की अपूर्वता राजा को संतुष्ट बनाते हैं। क्योंकि इस घड़ी से

¹ डॉ. बनवीर प्रसाद शर्मा और डॉ कृष्ण काँटा भारद्वाज, समकालीन ऐतिहासिक पौराणिक नाटक, पृ : 26

राजधानी की रौनक बढ़ेगी। इसपर खुश होकर राजा हानूश को बहुत कुछ इनाम देता है और दरबारी पद भी देता है। लेकिन हानूश इससे बहतर ओर घड़ी का निर्माण करके किसी अन्य देश का भी शान बढ़ायेंगा, इस पर चिंतित राजा आदेश देता है – “इस आदमी को और घड़ियाँ बनाने की इजाज़त नहीं होगी। इस हुक्म पर अमल करवाने के लिए हानूशकुफलसाज़ को उसकी आँखों से महरूम कर दिया जाए। उसकी दोनों आँखें नहीं होंगी तो और घड़ियाँ नहीं बना सकेगा।”¹ इस प्रकार हानूश को उसकी सराहनीय साधना के बदले, सत्ता के प्रति समझौता होने के बदले, यह विचित्र पुरस्कार स्वीकारना पड़ा।

साधारणतः सामान्य रचनाकार भले ही भौतिक प्रलोभनों के कारण कलागत ईमानदारी से च्युत होकर सुख-सुविधा का मार्ग अपना लेते हैं। लेकिन अपने कला सृजन के प्रति ईमानदार कलाकार इन प्रलोभनों से विमुख रहना चाहता है। “मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।” मोहन राकेश का ‘आषाढ का एक दिन’ में कालिदास का यह कथन और सुरेन्द्र वर्मा का ‘आठवाँ सर्ग’ में कालिदास का कथन - “दबावों और षड्यंत्रों की उस मायानगरी में मैं क्या करूंगा वहाँ? यह सम्मान मुझे क्या देगा?” आदि प्रलोभनों के प्रति विमुखता दिखाने वाले कलाकार की मानसिकता का प्रमाण है। कला के प्रति ईमानदार रखने के लिए वह किसी भी कष्ट सहने

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ : 78, 79

को तैयार रहता है। लेकिन सत्ता की कूटनीति में फँस कर अपने व्यक्तित्व को भी उसके चरणों में समर्पित कर दूसरों के इशारे पर नाचने के लिए अभिशप्त अनेकों कलाकार आदिकाल से लेकर आज भी मौजूद है। इसका एक उदाहरण है असगर वजाहत का नाटक 'इन्ना की आवाज' का नायक 'इन्ना'। इसमें इन्ना एक गुलाम गायक है। चरवाहा इन्ना की आवाज याने कि चरवाहों का नगमा लोगों को बेहद अज़ीज़ लगता है। खुदा ने उसकी आवाज़ में बेपनाह ताकत और कशिश दी है, जिससे सुननेवालों को एक अजीब सा रूहानी सुकून मिलता है।

इन्ना समरकंद के बाज़ार से खरीदकर महल के काम के लिए लाया गया गुलाम है। वह दयावान और दूसरों की मदद करने वाला है, अपने हिस्से का भोजन दूसरों को खिला भी देता है। रात गये तक वह घोड़ों को पानी पिलाता रहता है। परमात्मा द्वारा दी गयी मधुर आवाज़ से वह जन-जन के दुःखों को हट लेता है।

इन्ना की इस इंसानियत से सुलतान की आज्ञा से निर्मित महल के बाहरी दरवाज़े पर बार-बार सुलतान का नाम खुदवाने पर भी वह स्वयं मिट जाकर वहाँ इन्ना का नाम स्वयंमेवा लिखा चला जाता है। इन्ना में यह रूहानी शक्ति उसके मानवीय गुणों के कारण आयी है जिसका सुलतान में अभाव है। इन्ना में स्वार्थ-फरेब नहीं। वह तो प्राणी मात्र का सेवक है। वह त्याग बलिदान का मिसाल है। लोगों की नजर में उन्हें एक फरिश्ता का स्थान है।

इस घटना में क्रुध सुलतान पहले उन्हें कठिन सज़ा देने का निश्चय करते हैं। लेकिन फिर वह महसूस करता है कि – जब तक इन्ना में इंसानियत रहेगी तब तक महल के दरवाज़े पर उसका नाम नहीं हटेगा। राजा अपने विरोधी को पालतू बना लेने का षड्यंत्र रचता है और मल्का से कहता है – “इन्ना के पास जाओ। उसकी तारीफ़ में जमीनों-आसमान के कुलावे मिला दो। उसे एहसास हो जाना चाहिए कि वह बहुत अहम् शख्स है। उसके बाद उससे दरख्वास्त करो कि वह वज़ीर का ओहदा कुबूल कर ले। हम उसे वज़ीर बनाना चाहते हैं (व्यग्यात्मक ढंग से) जानवरों की खिदमत करने का इससे अच्छा मौका न मिलेगा।”¹ यहाँ सुलतान कूटनीति द्वारा इन्ना की जन स्वीकृति को मिटाना चाहता है। सत्ता मानवीय मूल्यों की रक्षा तथा जन कल्याण के लिए होती है परंतु आज सत्ता मानवीय मूल्यों को मिटा कर लोगों को भ्रष्ट और स्वार्थी बना रही है। सत्ता का कर्तव्य सभी को इन्ना जैसा बनाना है, पर वह सभी को दारोगा जैसा कठोर तथा सुलतान जैसा स्वार्थी तथा भ्रष्ट बनाने के लिए कार्य कर रही है।²

सुलतान इन्ना को प्रलोभनों में फँसाकर उससे वज़ीर ओहदा कुबूल करवा लेते हैं। इन्ना ने गरीबी और भूखमरी में जीवन बिताया है। सुलतान उनकी इसी कमज़ोरी का लाभ उठता है। आगे सत्ता के अधिकार और सुख

¹ असगर वजाहत, इन्ना की आवाज़, पृ : 74

² डॉ. नरेन्द्र मोहन, समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ : 265

सुविधा में फँसकर इन्ना मौज मस्ती का जीवन बिताता है। महल के द्वार से इन्ना का नाम तभी मिट जाता है जब वह सुलतान या दरोगा जैसा हो जाता है, अर्थात् अमानवीय प्रवृत्तियों से संचित। व्यवस्था की कूटनीति के फलस्वरूप इन्ना को उनकी मधुर आवाज़ भी नष्ट हो जाती है यहाँ व्यवस्था की चाल कामयाब होती है। सुलतान के शब्दों में –“ये समझ लो कि ज़मीन पर रेंगने वाले बहुत छोटे कीड़े पर अगर एक बड़ी फौज हमला कर दे तो उसे नहीं मार सकती। लेकिन अगर उस कीड़े को ज़मीन की सतह से बहुत ऊपर उठा लिया जाए तो वह अपने आप मर जायेगा।”¹ सत्ता द्वारा एक आदमी की इंसानियत की मृत्यूके साथ एक कलाकार की मौत भी हो जाती है। नाटककार लोक कथा के माध्यम से वर्तमान राजनीति का पोल खोलता है तथा सत्ताधिकारियों के भ्रष्ट अमानवीय रूप को भी हमारे सामने रखता है। आज की राजनीति व्यक्ति में इंसानियत नहीं बल्कि हैवानियत पैदा कर रही है। नैतिकता, परमार्थ, सेवा, त्याग का भाव इसीलिए समाप्त होता जा रही है।² इसके संबंध में अपने लेख में मोहन राकेश का कथन देखिए – “एक लेखक सत्ता द्वारा दी गयी सुविधाओं का उपभोग करता हुआ अपने व्यक्तित्व और विचारों की स्वतंत्रता को बनाए रख सके और उस पर कोई ऐसा दायित्व न पड़ता हो

¹ असगर वजाहत, इन्ना की आवाज़, पृ : 102

² डॉ. नरेंद्र मोहन, समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ : 267

जिससे लेखक के रूप में उसकी आवाज़ कमज़ोर होने लगे तो उसे स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए, लेकिन चूँकि ऐसा हो नहीं पाता। इसलिए निश्चित रूप से सारी प्राप्त सुविधाओं की तुलना में लेखक का व्यक्तित्व ही अधिक महत्व पूर्ण है।”¹

कला और राजनीति के ऐसे पारस्परिक बंधन से यह विदित होता है की हर व्यवस्था ने कला को प्रश्रय देने और कलाकार को पुरस्कृत करने का ढोंग रचा है और इसको लक्ष्य भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया है। व्यवस्था के साथ समझौता करने वाला कलाकार हर युग में होता है। पद और ओहदे से उत्पन्न प्रतिबद्धता कलाकार के स्वतंत्र सृजन में विघ्न डालता है। यहाँ ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता काश्मीरी कवि रहमान राही का चिंतन सही निकलता है कि – “विवेचनात्मक प्रतिभा साहित्यकार के लिए ज़रूरी है। उसके बिना जो प्रतिबद्धता है उसमें व्यक्ति की प्रति क्रिया को हर्गिज़ जगह नहीं मिलेगी। जीवन की यथार्थ और परिस्थितियों के आधार पर स्वतंत्र निरीक्षण आवयशक है। प्रतिबद्धता के साहित्य में स्वतंत्र चिंतन को स्थान नहीं मिलेगा। हुक्कुम की मुताबिक लिखे जाने वाले साहित्य में ईमानदारी की चिनगारियाँ नहीं दिखाई पड़ेंगी।”²

¹ मोहन राकेश, साहित्य और संस्कृति, पृ : 13

² रहमान राही, नया ज्ञानोदय, मार्च 2008 पृ : 9

राजनीति और धर्म

आज इस युग में राजनीति किसी व्यक्ति संस्था या गुट के स्वार्थ आचरण का साधन बन गए है। आज की पतनोन्मुख राजनीतिक अवस्था का प्रमुख सूत्रधार तो अंग्रेज़ शासक ही है। इन्होंने ही हमारे इस देश में राजनीतिक कार्यों के लिए धर्म या सम्प्रदाय का इस्तेमाल किया था। मनुष्य को प्रांत, भाषा, जाति और धर्म में बाँटने के इस राजनीतिक षड्यंत्र ने स्वतंत्रता के वास्तविक मूल्यों का अवमूल्यन करा दिया। समाज के लोगों को भिन्न-भिन्न तबकों में बाँटकर शासन करने में वे सफल भी निकले, फलतः स्वतंत्र भारत में ऐसी प्रथा ज़ारी रही। आज राजनीति का दायें हाथ के रूप में धर्म का उपयोग किया जा रहा है। धर्म के गठबंधन के बिना राजनीति समाज में अप्रभावित है, ऐसी स्थिति में आ चुके है। धर्म के नाम पर दलीय राजनीति के भ्रष्टाचार ने भारत समाज में आज अपना काला हस्त फैलाया है। धार्मिक भेद के अनुसार यहाँ की राष्ट्रीय भावना में भी विरुद्धता आ गयी। परिणाम स्वरुप यहाँ जनता सांप्रदायिकता, धार्मिक पागल पन, पशुता और अत्याचार की गुलाम बन गयी। यहाँ के बड़े-बड़े राजनीतिक एवं बुद्धि जीवि दार्शनिक इस खतरे के बारे में वाकिफ भी थे, लेकिन इसके विरुद्ध उन्होंने एक कदम भी आगे न बढ़े। राजनेताओं ने धर्म के गठबंधन को वोट पाने का साधन समझकर राजनीतिक प्रचार के लिए साफ़-साफ़ उपयोग किया। हमारी व्यवस्था ने सब खतरे को आखों के सामने देखकर भी अनदेखा किया। परिणाम यह हुआ कि राजनीति के

बदले सांप्रदायिक राजनीति का हस्ताक्षेप होने लगा। धार्मिक नेता भी अपनी स्वार्थता एवं लक्ष्य प्राप्ति के लिए राजनीति को साथ लेकर समाज में हलचल पैदा करना आरंभ किया।

समाज के अभिन्न अंग मानी जानी वाली कला के क्षेत्र में राजनीति और धर्म के अनावश्यक दखल ने, कला और कलाकार को दिशाहीन बनाया।

राजनीति और धर्म के गठबंधन से उत्पन्न कलाकार की अभिव्यक्ति स्वतंत्रता का प्रश्न और इन शक्तियों के साथ उसकी टकराहट जैसे मसलों पर प्रकाश डालने वाले सुरेन्द्र वर्मा का प्रसिद्ध नाटक है 'आठवाँ सर्ग'। इसमें कालिदास द्वारा रचे गए 'कुमारसंभव' के आठवें सर्ग पर अश्लीलता का आरोप लगाते हुए धर्म और शासन द्वारा प्रतिबंध लगाये जाते हैं और कालिदास को इस पर क्षमा याचना करने के लिए बल पूर्वक विवश किया जाता है। यहाँ एक शासक के तौर पर महाराजा चन्द्रगुप्त का दायित्व सत्ता को बनाए रखना एवं जनता में आक्रोश उत्पन्न न होने से जुड़ा है। वास्तव में वह कुमारसंभव के आठवें सर्ग पर पति-पत्नी के आपसी संबंधों को अश्लील नहीं मानता है। वह स्वयं यह व्यक्त भी करते हैं - "आठवें सर्ग में एक पति-पत्नी की प्रणय लीला का चित्रण है और पति-पत्नी के बीच कुछ भी अश्लील नहीं होता, क्योंकि वह पूरी तरह देने और पूरी तरह पाने का संबंध है। इसमें अश्लीलता उसी को मिलेगी, जिसकी दृष्टि अधूरी होगी,

अर्थात् जो केवल नग्नता देखेगा, उसे औचित्य देने वाली पूर्णता नहीं, सार्थकता नहीं।”¹ किंतु राजा इसके साथ अपनी दोहरी मानसिकता भी व्यक्त करते हैं – “धर्म गुरु केवल अश्लीलता की घोषणा से संतुष्ट नहीं होंगे। वे चाहते हैं कि तुम्हें कोई दंड भी मिले और अगर ऐसा नहीं किया गया, तो वे राजप्रासाद के सामने आमरण अनशन पर उतर आयेंगे।”² राजा की यह दोहरी मानसिकता, वर्तमान युग के राजनेताओं की मानसिकता से मेल खाती है। क्योंकि वर्तमान काल के राजनीतिक शासक भी कला और कलाकार के महत्व पर ध्यान रखते हुए भी, बाहरी शक्तियों (धर्म आदि) के विद्वेष के डर से निरपराधी कलाकारों पर दबाव डालते हैं। अपनी कुर्सी की स्थिरता के लिए वे किसी भी हद तक गिर सकते हैं। इसके लिए अपनी नैतिकता को दांव पर लगाने के लिए भी पीछे नहीं हटते। क्योंकि वे जानते हैं कि, धर्म जैसी बाहरी शक्तियाँ अपनी इच्छा पूर्ति के लिए किसी भी दल के साथ गठजोड़ करने के लिए तत्पर हैं। राजा के शब्दों में – “शायद तुम्हें यह पता नहीं कि बांगेश्वर ने आसपास के राजाओं के साथ मिलकर एक संघ बना लिया है और गुप्त साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा कर दी है। शायद तुम्हें यह भी मालूम नहीं कि – सेनापति आम्रकार्द्व के यहाँ रात के अंधेरे में संदिग्ध व्यक्ति आते-जाते देखे हैं। शायद तुम यह भी नहीं जानते

¹ सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 55

² सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 56

कि तुम्हारे और मंजरी के ब्याह से ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही जातियों में असंतोष है और सेना के एक बड़े भाग पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा है। --
-अब मैं फिर नगर समाज के दूसरे मर्मबिंदु पर चोट हो जाने दूँ महत्वाकांक्षियों को अवसर दे दूँ, ताकि वे तुरंत लोगों के असंतोष से लाभ उठाने लगे?"¹ अपने पद और प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए राजा की व्यग्रता समकालीन राजनीतिक सन्दर्भों की ओर इशारा करता है। वर्तमानकालीन शासन व्यवस्था में सत्ताधारी राजनेता को अपने प्रतिपक्ष का ही नहीं अपने दल के भी विरोध का सामना करना पड़ता है सिंहासन कायम रखने के लिए कई अनैतिक व्यवहार के लिए प्रेरित होता है।

आज राजनीति के हरेक पहलु में बाहरी शक्तियों का दबाव फैला हुआ है। इसलिए राजा या शासक को जन हित का ही नहीं इन शक्तियों के हितों का संरक्षण करना पड़ता है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है, हर युग में ऐसे राजनीतिक अधिकारियों में कुछ निस्वार्थी एवं जनता पर विश्वास रखने वाले भी होते हैं, जो साधारणतः किसी भी कष्ट सहकर अपनी प्रजा का हितचिंतक होने के लिए तैयार होते हैं। ऐसा एक राजा है शंकर शेष का 'खजुराहो का शिल्पी' नामक नाटक का राजा यशोवर्मन। शासन के साथ समझौता करनेवाले कलाकार का वह विरोध करता है। उनकी राय में,—
“यह तो बड़े कलाकार का लक्षण है। समझौता करने वाला व्यक्ति हमेशा

¹ सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 57

छोटा होता है। वह बहुधा दूसरों से या स्वयं से पराजित होता है। यदि कलाकार सचमुच महान होगा, तो उसे समझौता करने के लिए हम कभी विवश नहीं करेंगे।”¹ राजा यशोवर्मन यथार्थ कलाकार के धर्म को जानता है और मानता है। इसीलिए वे शिल्पी द्वारा बनाई गई मूर्तियों पर अश्लीलता का आरोप धर्म गुरु और शिल्पी के विरोधी शक्तियों की ओर से प्रकट किये जाने पर भी इसे सहजता से खण्डन करते हैं। राजा इन बाह्य शक्तियों के प्रभाव में पड़कर कलाकार पर तथा कला के महत्व पर अविश्वास लगाना नहीं चाहता है। वे शिल्पीको धैर्य देते हुए कहते हैं, “---अब यदि पूरा संसार भी तुम्हारे विरोध में खड़ा होगा, तो उसका सामना मैं करूंगा। तुम निश्चित रूप से अपना काम करो।”²

आज के इस मूल्यहीन परिवेश में यशोवर्मन जैसे कला प्रेमी शासकों की सख्त ज़रूरत है जो कलाकार को अपनी कल्पना की ऊँची उड़ान लेने की पूरी आज़ादी देता है।

निष्कर्ष

प्राचीन काल से लेकर, स्वतंत्रता प्राप्ति और वर्तमान युग तक की भारतीय राजनैतिक परिस्थितियों ने किसी न किसी प्रकार कलाकार के सृजनात्मक क्षेत्र में अपना प्रभाव डाल दिया है। सृजनात्मक क्षेत्र में

¹ शंकर शेष, खजुराहो का शिल्पी, पृ : 35

² शंकर शेष, खजुराहो का शिल्पी, पृ : 58

राजनीति का अपना धर्म होता है और कला का अपना। राजनीति समाज के व्यवस्थित संचालन के लिए होता है तो कला सामाजिक गतिविधियों के यथार्थ चित्रण करके इसकी विध्वंसात्मक शक्तियों के प्रति समाज को जागृत करने के लिए है। आज राजनीति, प्रत्येक युग के विभिन्न स्वरूपों और विधाओं में विभिन्न रूप में विद्यमान है। जो मूलतः सत्ता केन्द्रित स्वार्थ मोह पर निर्भर है। फलतः इस क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का ह्रास हो गया है। राजनीतिक क्षेत्र के ऐसे मूल्य शोषण ने समाज के अन्य क्षेत्रों की तरह कलात्मक क्षेत्र में भी अपना प्रभाव डाला है। लेकिन कलाकार को अपने दायित्व एवं धर्म भूलना न चाहिए। संघर्षों से प्रेरणा पाकर अपने धर्म को निभाना एक समाजोन्मुखी कलाकार का लक्षण है। एक तरह देखते हैं तो ऐसे संघर्ष ही सृजन का प्रेरक स्रोत है। अतएव अत्यंत संघर्षपूर्ण वातावरण में ही एक उज्वल सृष्टि संभव होता है। मिसाल के तौर पर कहे तो फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार एवं उपन्यासकार चार्ल्स वल्लिन अपनी महानतम कृतियों की रचना शेर के पिंजरे में उसके साथ रहकर ही करते थे। इसी तरह मुसीबतों से ऊर्जा एवं प्रेरणा पाकर अपने सृजन कार्य में संक्षम रहना एक कलाकार के लिए उचित सिद्ध होता है। इसके साथ शासन व्यवस्था भी इस पर ध्यान देना चाहिए कि सच्ची आज़ादी से ही कलाकार को स्वच्छन्द सृजन के पक्षधर होना पड़ता है, इसलिए उन्हें पूरी आज़ादी देना राजनीति का कर्तव्य है। कवि केदारनाथ अग्रवाल ने अपना “लेखक की स्वतंत्रता” नामक कविता में यह मत प्रकट किया है।

“राजशाही गुम्बद को छाया में लेखक को पालो नहीं
लेखक को हुक्म या हिदायत से बांधो नहीं
लेखक को सच्ची बात कहने से रोको नहीं
बल्कि उसे सच्ची आज़ादी दो
ताकि वह नहीं लिखे जो किसे लिखना है
ताकि वह मंज़ूर की, किसान की हिमायत करें।”¹

¹ केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ : 80

तीसरा अध्याय
कलाकार की सृजनशीलता और धर्म



धर्म

धर्म मानव समाज की एक सार्वभौमिक संस्था है। मानव जीवन के इतिहास में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आदिकाल से लेकर सामाजिक संगठन को स्थायित्व प्रदान करने वाली संस्था के रूप में धर्म प्रचलित है। यह मनुष्य को उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित करने वाला लौकिक और पारलौकिक जीवन के मध्य श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होने का एक विचार है, एक चिंतन है।

धर्म : अर्थ और परिभाषा

धर्म अंग्रेज़ी के 'रिलीजन' शब्द का पर्यायवाची शब्द है। यह शब्द संस्कृत के 'धृ' धातु से 'म्क' प्रत्यय जोड़ने पर हुआ है जिसका अर्थ है धारण करना आलम्बन लेनाया पालन करना।

धर्म मानव के संपूर्ण विकास के साधन जुटाता है, वह उसके सर्वतोन्मुखी व संतुलित विकास का प्रमुख कारक है। इस प्रकार कह सकते हैं कि जहाँ धर्म है, वहाँ विजय है। धर्म और विजय को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म ही सत् और असत् का निश्चय करने वाला विवेक है और सद्बुद्धि रूपी प्रकाश है। ऐसे विवेक और प्रकाश रूपी धर्म पर जब तक हम अटल रहते हैं तब तक हमारा कोई अकल्याण नहीं होता। इस प्रकार धर्म मानव मन के सारे क्लुष को दूर करके वहाँ ज्योति जलाते हैं और मनुष्य, अंधकार पर विजय पाकर परम आनंद में प्रवेश करते हैं।

‘धर्म’ एक ऐसी अनुभूति है, जिसे स्वयं प्राप्त करना होता है। इसलिए ही धर्म के लिए कर्म अनिवार्य भूमिका निभाता है। व्यक्ति अपनी समस्त प्राणिक एवं बौद्धिक ऊर्जा धर्म की खोज व अनुसंधान के लिए झोंक देते हैं तो ‘धर्म’ उनपर एक क्रांति के रूप में घटित होता है। ‘धर्म’ कर्म के माध्यम से सतत प्रवाहित एक चिरंतन सत्य है। इसलिए धर्म की वास्तविक शक्ति की परख कर्म के माध्यम से ही संभव होता है।

भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ का उल्लेख किया गया है। वे हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थ के संदर्भ में धर्म का अर्थ होता है कर्तव्य से। व्यक्ति को अपने राष्ट्र के, समाज के, परिवार के और अपने प्रति कर्तव्य है, यही धर्म है। धर्म के क्षेत्र में कर्तव्य की यह महिमा अनंत है। इस प्रकार धर्म का अस्तित्व, कर्तव्य प्रधान चेतना से जुड़ा हुआ है और यह प्रत्येक समाज की संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग होता है। अतः धर्म मानव को सदाचरण, सदव्यवहार, कर्तव्य निष्ठा तथा समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व का बोध कराता है। सच्चा धर्म मानव को सहजीवियों के प्रति संवेदनशील बनाता है, उनके हृदय को विशाल और उदार बनाता है। देश विदेश के सभी व्यक्तियों एवं धर्मों के प्रति सहिष्णुता आदर एवं प्रेम का भाव जागृत करना धर्म का मूल लक्षण है।

“धर्म एक क्रांति है, एक अंतर्बोध है, अंतर्यात्रा का उपाय है और स्वयं को जानने की विधि है। स्वयं को जानने बिना जो जगत को जानने की चेष्टा

करता है, वह भटकता है, अशांत रहता है, उद्वेलित रहता है। व्यक्ति हर युग में अशांत रहा और आज भी अशांत है तथा इसका मूल कारण है कि वह अंतर्मुखी नहीं होना चाहता, वह अंतर्यात्रा पर जाने से इनकार करता है। जो अंतर्यात्रा पर नहीं जा सकता, वह धार्मिक नहीं हो सकता। धर्म तो अन्तस् के रूपांतरण की कला है, वह अंतर्ज्योति जलाने की विधि है, ताकि सारे कलुष दूर हो सके, अंधकार पर विजय पाई जा सके, परम आनंद में प्रवेश किया जा सके। परम आनंद में प्रवेश, बाह्य तपश्चर्या से नहीं मिलता। स्वयं को कष्ट देने से, स्वयं को जलाने और गलाने से, स्वयं को मारने से व सुखाने से दिव्य आनंद की अनुभूति नहीं होती। दिव्य आरोहरण के पथ पर चलने के लिए स्वयं को पहचानना अनिवार्य है और जो स्वयं को सताते है, सुखाते है, वे स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं सकते।¹

प्राचीन काल में सामाजिक दायित्वों को व्यवस्थित रूप से निभाने के लिए मानव कुल जाति को वेद, उपनिषद एवं दर्शन के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जैसे चार वर्णों में विभाजित किया गया था। प्रत्येक वर्ण को निश्चित कर्मों में बाँटा हुआ था। इसमें ब्राह्मण जो है, उन्हें प्रमुख रूप से अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना व कराना, दान देना व लेना जैसे कर्मों द्वारा सामाजिक कर्तव्य निभाने का अवसर, क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा करना, विषय-भोग से दूर रहना, तथा कार्यशक्ति द्वारा राज्य का संरक्षण इत्यादि,

¹ नरेन्द्र मोहन, धर्म और सांप्रदायिकता, पृ : 37

वैश्यों का पशुपालन, कृषि तथा व्यवसाय और अंत में शूद्र, जिनकी उत्पत्ति ऋग्वेद के अनुसार विराट् पुरुष के पैरों से हुई है और उसी के आधार पर शूद्रों का कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना बताया गया है। कर्मों के आधार पर विभाजित की गयी यह वर्ण व्यवस्था बाद में जाति के रूप में निर्धारित होने लगी। फिर 'जाति', हिन्दू धर्म की एक विशेषता बन गयी। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न जातीयता से ब्राह्मण, समाज के उच्च वर्ग बन गए और शूद्र निम्नतम वर्ग, जिन्हें वेद पढ़ने के लिए और ज्ञानार्जन के लिए कोई अधिकार नहीं था, उच्च वर्ग की सेवा और आश्रित रहना यही उनका दायित्व बन गया। ब्राह्मण वर्ग के पंडित और पुरोहित लोगों ने समाज, सम्प्रदाय परिवार आदि में निर्देशों, निषेधों, आज्ञाओं और उपदेशों द्वारा अपना नियंत्रण स्थापित किया। प्रायः इसी नियंत्रण द्वारा समाज में उन्होंने अपने वर्चस्व स्थापित किया। समाज सेवा, समाज कल्याण और सामाजिक उत्थान के लिए उत्भूत धर्म की स्थिति, गति एवं लक्ष्य बहुत अधिक बिगड़ गई। जगत में धर्म एक ऐसा रूढ़ शब्द बन गया, जो केवल मानव की संकीर्णता और समाज के ह्रास का कारण मात्र बना हुआ है। मानव मानव के बीच में प्रेम और भातृत्व को पैदा करने के लिए उपजे धर्म इनके बीच विद्रोह एवं संघर्ष पैदा करके आपस के संबंध को तोड़ने और विध्वंसक स्वरूपों को मन में भटकाने में जुट गए।

विदेशी शक्तियों के आगमन से जातीयता के साथ-साथ सांप्रदायिकता का भी बीज उगने लगे। आज धर्म मानव समाज के लिए अफीम का नशा बन गया है।

धर्म और कला

प्राचीन काल से ही भारत में धर्म और कला का अत्यंत निकटतम संबंध है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में रसानुभूति को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुभूति और काव्यानुभूति का एक ही मूल स्रोत है। धर्म और कला की प्रवृत्ति और प्रेरणा मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति से है और वह प्रकृति का सार तत्व ही – विश्व के साथ मनुष्य का घनिष्ठ और अविलम्ब संपर्क अनुभव करना है। इससे स्पष्ट होता है कि धर्म का उतना ही लक्ष्य या प्रयोजन है जितना कला का। दोनों मनुष्य की, उन्ही सांकल्पिक, आत्मिक और भावात्मक शक्तियों का उपयोग करता है। भारतीय समाज में कला की हर विधा में धार्मिकता का असर, साथ ही धर्म के क्षेत्र में कला का उपयोग भी हुआ है। आदिकाल से ही धर्म के प्रचारण प्रसारण के लिए कला का उपयोग किया जाता था। काल का प्रभाव कला पर भी पड़ता है। देश, परिवेश, जाति, धर्म, विचारधारा तथा जीवन दर्शन का प्रभाव इस पर भी पड़ा है। एक ही ज़माने में विभिन्न स्थानों, देशों अथवा राष्ट्रों की कला का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। इसी प्रकार विभिन्न धर्म तथा जीवन दर्शन के प्रभाव से कला भी बदल गया। आज कला का अपना धर्म है। यह धर्म के आश्रय से छुटकारा पाकर युगबोध का काम करता है। प्रसिद्ध कलाकार मैथ्यू आर्नाल्ड ने भी ऐसा मानता था कि आने वाले युगों में कविता की

अवश्यमभावी नियति यही है कि यह उस मानव मात्र को जोड़ने वाली और जीवन को अर्थ प्रदान करने वाली भूमिका का निर्वाह करे जो कि - अब तक धर्म निबाता आया था।

आज कला का मार्ग और लक्ष्य सौन्दर्य साधना है। यह सौन्दर्य जो है वह सत्य है। अतः कला, सत्य की अभिव्यक्ति है यानी सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति।

धर्म और कलाकार

समाज और राजनीति के साथ कला भी धर्म से प्रभावित रहता है। प्रत्येक कलाकार का कोई न कोई धर्म होता है और उसकी रचना पर दूसरे विचारों के साथ-साथ उसके धार्मिक विचारों और मान्यताओं का भी प्रभाव पड़ता है। धर्म और धर्म से जुड़ी हुई सारी व्यवस्थायें मनुष्य द्वारा ईजाद की हुई है और वे मनुष्य के लिए, मानव कल्याण के लिए हुई है और मनुष्य इस धर्म के लिए। इस अवसर पर कलाकार कला द्वारा धर्म-प्रचारण का काम अपने दायित्व समझते थे। इसके द्वारा समाज कल्याण, समाज सेवा यही उनका लक्ष्य था। जिस शब्द का आश्रय लेकर कलाकार ने सर्वाधिक सृजनात्मक कार्य किए हैं, अपना उत्कर्ष किया है, श्रेष्ठतम मूल्यों को उद्घाटित किया है उसी शब्द की वजह से आज उनसे सर्वाधिक रक्त भी बहाना पड़ता है।

कलाकार की सृजनात्मकता और धर्म

एक सामाजिक प्राणी होने के नाते कलाकार हरेक युग में समाज सेवा अपने दायित्व के रूप में निभाता है। जिस समय धर्म का उद्देश्य एवं लक्ष्य समाज कल्याण था, उस समय कलाकार ने कला द्वारा धर्म प्रचारण किया था। कालांतर में धर्म की अवधारणा बिलकुल विकृत हुई। फलस्वरूप समाज में सत् के स्थान पर असत्, नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता जैसे व्यवहारों का पदार्पण हुआ। धर्म का एहसास अफीम का नशा जैसे समाज में प्रकट होने लगे। तब इस नशे से मानव की मुक्ति अपना दायित्व समझकर कलाकार कला द्वारा इसकी ओर प्रयत्नरत हो गए। फलस्वरूप अपनी इच्छा के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले कलाकारों पर, सृजनात्मक के क्षेत्र में अभिव्यक्ति स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने वाली शक्ति के रूप में धर्म अपना स्वरूप प्रकट करने लगा।

मानव सभ्यता के अथ से अब तक मनुष्य की जीवन यात्रा में उनकी सर्वोच्च कामना अपने आपको स्वतंत्र तथा अभिव्यक्ति करने को रही है। इस आत्माभिव्यक्ति द्वारा वह अपने को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है तथा अपने अस्तित्व को सार्थकता प्रदान करना चाहता है। पर इतिहास के प्रमाण में ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं जहाँ निहित स्वार्थ और निहित शक्तियों द्वारा मनुष्य की इस अभिव्यक्ति स्वतंत्रता पर बाधाएँ हुई हैं। एक साधारण आदमी के बदले एक संवेदनशील आत्मा होने के कारण समाज के

कलाकारों पर इन शक्तियों का प्रसार दिगुना असर डालता है। तब उनसे अनलहक की आवाज़ उठती है। जान लेकर भी अपनी स्वतंत्रता को कायम रखने के लिए वे संक्षम होते हैं और वहाँ संघर्ष उत्पन्न होता है। ऐसे संघर्षपूर्ण वातावरण में विद्रोह की ज्वालाएँ भी उनसे बाहर निकलते हैं। धार्मिक शक्तियों द्वारा समाज और कलाकार के सृजनात्मक संसार में हुए आघातों पर कुछ नाटकों और उपन्यासों के ज़रिए विश्लेषण करने का प्रयास हुआ है।

भीष्म साहनी का 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' नाटक में ऐसे एक कलाकार का चित्रण हुआ है जो राजनीतिक सामाजिक एवं धार्मिक शक्तियों की कुरीतियों के बीच निर्भीक होकर अटल रहा था। कबीर सच्चे अर्थ में अध्यात्म और ईश्वर को पहचाननेवाला व्यक्ति थे। अध्यात्म का अर्थ है स्वयं को ईश्वर के प्रति समर्पित कर उसका सच्चा भक्त बनना। धर्म या ईश्वर परस्पर घृणा करना या हिंसा करना नहीं सिखाता है। यह सत्य कबीर ने समझ लिया था। धर्म के नाम पर समाज में फैले अधर्म पर एक संवेदनशील कलाकार होने के नाते कबीर की आत्मा कराह उठी थी। जिन धर्मों से मानव-मानव के बीच घृणा एवं हिंसा उत्पन्न हो जाती है उन धर्मों को मानने से उसने इनकार कर दिया था। "मैं खुदा का बन्दा हूँ। मेरा मजहब इंसान की मोहब्बत है। खुदा की बन्दगी है। मैं उस खुदा की इबादत करता हूँ जो हर इंसान के दिल में बसता है। मेरा परवरदिगार मेरे चारों ओर है। वह मेरे दिल में बसता है। उसकी नज़र में न कोई हिन्दू है, न तुर्क। मैं अल्लाह का नूर हर इंसान में

देखता हूँ, इंसान के दिल में देखता हूँ।”¹ धर्म, उपासना आदि सभी का अंतिम लक्ष्य मनुष्य को मनुष्य से जोड़ना है, परंतु कबीर ने देखा की समाज में इसकी विपरीत स्थिति है, समाज में मनुष्य मनुष्य से दूर हो गया है। एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों को अपने शत्रु मानते हैं।

कबीर ईश्वर को हरेक प्राणी में देखता है। इसलिए जीव हत्या से उनके मन में आन्तरिक पीड़ा जागती है। ईश्वर की उपासना के नाम पर जीव को बलि देना तत्कालीन युग के विभिन्न धर्मों में प्रचलित थी। यह कबीर के हृदय में बहुत आहत पैदा करता है। ऐसे अवसरों पर इस प्रवृत्ति से जुड़े लोगों से कबीर अपना विद्वेष प्रकट करते हैं तो वे इनपर बिगड़ते थे और यथा समय उन्हें मारते भी थे। तब कबीर के मन से कविता बहती है - “मैं ने उनसे कुछ नहीं कहा। पर मुझे एक कवित्त सूझ गया, मैं ने खड़े-खड़े कवित्त बोल दिया। मैं ने कहा --

दिन-भर रोज़ा रहत है रात हनत है गाय

यह तो खून बह बन्दगी, कैसी खुसी खुदाय”²

कबीर ने यह कवित्त मस्जिद के सामने कहा था, जो उनके निर्भीक व्यक्तित्व का प्रमाण है। कबीर का यह निर्भीक व्यक्तित्व शासक एवं धर्म के ठेकेदारों पर क्रोध तथा भय उत्पन्न करते हैं। वे किसी न किसी प्रकार कबीर

¹ भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाज़ार में, पृ: 95

² भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाज़ार में, पृ: 17

का मुँह बंद करना चाहता है। “लेकिन जब तक कबीरदास का मुँह बंद नहीं कराया जायेगा तब तक इस मर्ज का इलाज नहीं हो पायेगा।”¹

कबीर का तत्कालीन युग हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्मों के बीच संघर्ष का युग था। वहाँ मुस्लिम शासक प्रबल थे, नृशंसता में वे विश्वास करते थे। उनके धार्मिक आचार व्यवहार सब हिंदुओं से सर्वथा भिन्न थे। मुसलमानों के खुदावाद और हिंदुओं के ब्रह्मावाद में निर्गुण सगुण का झगडा वितंडवाद का रूप धारण कर चुका था। लेकिन कबीर की यह मान्यता है कि प्राणिमात्र के घट-घट में और प्रकृति के कण-कण में एक ही तत्व रहता है, कबीर इसी तत्व को लोगों के सामने व्यक्त करने का प्रयास करते रहे। इसी कारण वह साधुओं और मौलवियों से झगडा मोल लेते थे। कई बार इसी कारण इन दोनों से बुरी तरह मार खानी भी पड़ी। कबीर को सज़ा देने के कार्य में उन दोनों में मतभेद कभी भी नहीं हुआ था।

“कोतवाल : सुनो मौलवी, यह शहर हिंदुओं का मुकद्दस शहर है। यहाँ का राजा हिन्दू है। वह लोदी बादशाह को खिराज देता है। अगर मज़हब के नाम पर इस आदमी को पकड़कर सज़ा देंगे तो किसी को बुरा लग सकता है।
मौलवी : किसी को कोई बुरा नहीं लगेगा। हिन्दू लोग तो हमसे भी ज्यादा इस आदमी से आजिज़ आये हुए है। वह आये-दिन उनके मज़हब को भी बुरा-भला कहता फिरता है। कई बार वे इसे सज़ा दे चुके है।”²

¹ भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाज़ार में, पृ : 39

² भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाज़ार में, पृ : 40

वास्तव में इन साधू-संतों और मुल्ला मौलवियों के अत्याचार एवं मारपीट ने ही कबीर को निर्भीक बनाया था। “सेना, अगर तुमने उस मासूम की पिट देखी होती, जिसे चाबुक से छलनी कर डाला गया था, तो तुम्हें इन पाखण्डीयों से डर नहीं लगता। इनके कारण लोगों का जीवन नरक बन गया है। (लापरवाही से) तुम चिंता नहीं करो। ये बातें तो होती ही रहती है।

जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है संग
कोटि काल झक झोरहीं तऊ न हो चित्त भंग।”¹

कबीर ने जाति-वर्ण-धर्म-भेद को समाज के लिए हानिकारक समझा। उनकी राय में सामाजिक अतःपतन के मुख्य कारण इस भेद-भाव से उत्पन्न वितृष्णा है। इसलिए उसने इसका पूरा का पूरा खण्डन किया। “एक बात तो मैं भी समझता हूँ। जब तक किसी की नज़र में एक ब्राह्मण है और दूसरा तुर्क, तब तक वह इंसान को इंसान नहीं समझेगा। मैं इंसान को इंसान के नाते गले लगाने के लिए, मन्दिर के सारे पूजा-पाठ और विधि अनुष्ठान छोड़ता हूँ और मस्जिद के रोज़ा-नमाज़ भी छोड़ता हूँ। मैं इंसान को इंसान के रूप में देखना चाहता हूँ।”²

¹ भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाज़ार में, पृ: 64

² भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाज़ार में, पृ: 91

समाज में फैले धार्मिक विषमता, अंधविश्वास आदि से ग्रस्त कबीर ने अपनी कवित्त द्वारा समाज को जगाना चाहा। इसकेलिए कबीर दिन-व-दिन काशी के कहीं न कहीं सत्संग आयोजित किया। इस प्रवृत्ति से समाज में जातिगत बंधन ढीले पड़ने लगे। सभी जाति के और सभी धर्मों के लोग सत्संग में सम्मिलित होने लगे। जिससे परंपरागत ब्राह्मण धर्म और मुल्लाओं को धक्का लगा। इसी कारण कबीर के शत्रुओं की संख्या भी बढ़ने लगी। “एक बार अगर इन्हें हाथी के पैरों तले रौंद दिया जाता तो इनके सब सत्संग और भण्डारे खतम हो जाते।”¹ परंतु कबीर ‘कोई आसक्त नहीं थे देह से न दैहिक विषयों से’ के अनुसार अपना कार्य करते रहे। यह धर्म के ठेकेदारों की बेचैनी यों बढ़ने लगी - “इससे धर्म की मर्यादाएं टूटेंगी, जात-पात के नियम टूटेंगे। हमने सुना है यह बीमारी काशी में ही नहीं फूटी है, देश के और स्थानों में भी फट रही है। कम्मी-कमीने इकट्ठा हो रहे हैं।”²

वास्तव में कबीर के निर्भीक व्यक्तित्व इस से उमड़े प्रत्येक कवित्त तथा प्रत्येक कृति यानी उनकी सृजनात्मकता, उसे पल-पल मृत्यू के निकट ले जा रही थी, फिर भी कबीर बेखौफ होकर अपना कार्य करता रहा। उसे ईश्वर के प्रति जो विश्वास था, उसी ने उसे आगे बढ़ाया -

¹ भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाजार में, पृ : 84

² भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाजार में, पृ : 84

“मो को कहाँ ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में
न मैं देवल, न मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में”¹

मणि-मधुकर का ‘इकतारे की आँख’ नामक नाटक में भी कबीर के समाज सेवी निर्भीक सृजनात्मक व्यक्तित्व का चित्र खूब देखने को मिलते हैं। इसमें भी कबीर और उनके साथियों मिलकर धार्मिक जबरजस्तियों के खिलाफ जनमानस को जागृत करना अपना उद्देश समझकर इसके लिए प्रयत्नरत दिखाई पड़ता है। यह रैदास के शब्दों में –“हमने कुछ टोलियाँ बनाई है, काशी के बाशिंदों। हम गाते-बजाते शहर की गलियों से गुजरेंगे और धरम के नाम पर होने वाले इस अधरम का पर्दाफाश करेंगे।

कबीर : हम जागे, दूसरों को जगाए, झूठ को झूठ और साँच को साँच कहने का साहस जुटा ले तो बहुत है।”²

कबीर की सूक्तियाँ जनता का विभ्रम दूर कर उसके प्रति विश्वास जगाने में समर्थ थीं। कबीर की राय में शैतानों का सामना करने के लिए ही खुदा ने इनसान को बनाया है।

कबीर न तो इस्लाम से प्रभावित थे न हिन्दू से और न किसी धर्म की वास्तविकता के विरोधी थे। सिर्फ असत्य, अधर्म से ही उनका विरोध था।

¹ भीष्म साहनी, कबीर खड़ा बाज़ार में, पृ : 97

² मणि मधुकर, इकतारे की आँख, पृ : 46

एक सच्चे धर्म की तलाश में ईश्वर और धर्म के नाम पर समाज में होने वाले अनाचार ने उन्हें दुखी बना लिया। उनके अनुसार सच्चा धर्म वह है जिनके द्वारा मानव-मानव में कल्याण साधना का मार्ग प्रशस्त हो, कोई किसी से घृणा न करें, कोई किसी की हत्या न करे। कबीर का धर्म किसी भी सांप्रदायिक संकीर्णता से दूर रहने की सदैव चेष्टा करते हैं -

“गलत को गलत कहो
गलत का विरोध करो
जांत-पांत तोड़कर छोड़ो सब एक तान
मानुष-मानुष एक समान।”¹

समाज में फैली जाति-भेद चातुर्वर्ण आदि संकीर्णताओं से लड़ने की जो पहल कबीर ने की, उससे धर्म के ठेकेदार कबीर का शत्रु बनते हैं। वे सत्ता के गठजोड़ से उन्हें गले में पत्थर बांधकर नदी में फेंकते हैं। लेकिन मल्लाह, मछुआरे, गोताखोर, जो कबीर को अपने प्राणों से ज्यादा चाहते थे, उसे बचाते हैं। फिर भी कबीर के अंतर की ज्वाला नष्ट नहीं होती है -

“सोच रहा हूँ कि - बापू और माँ ठीक ही कहा करते थे - जो लोग अन्याय के तले दबते-पिसते धूल हो गए हैं उन्हें अब आंधी बनकर ऊपर उठना होगा।”²

¹ मणि मधुकर, इकतारे की आँख, पृ : 60

² मणि मधुकर, इकतारे की आँख, पृ : 61

‘कहै कबीर सुनो भाई साधौ’ नामक नाटक में नरेन्द्र मोहन ने भी कबीर के समाज सेवी कला हृदय को अपने ढंग से खोजने का प्रयास किया है। इसमें भी कबीर ने तत्कालीन युग की वर्ण व्यवस्था, छुआ-छूत, धर्माधता आदि के खिलाफ अपना सृजनात्मक व्यक्तित्व प्रकट किया है। धर्म के ठेकेदारों पर उनका कवित्त चाटू के प्रहार जैसा प्रतीत होता है और वे उनके खिलाफ कोतवाल से अपना फरियाद प्रकट करते हैं - “हुज़ूर, यह शर्करावेष्टित निमोली है - शक्कर चढ़ी हुई निमोली। ऊपर से मीठी, भीतर से कडवी। यह हमारे धर्माचरण पर चोट है, हुज़ूर। इसके गीतों में आग में घी का काम किया है कल की वारदात में। इसे कड़ी सज़ा दीजिए।”¹

लेकिन ये पाबंदियों कबीर की विद्रोही चेतना तनिक भी न दबती है -

“हम पर कौन पाबंदियाँ लगाएगा, सेना! हम हृद-बेहृद से परे हो चुके हैं - अपनी मर्जी के मालिक। बाकी साथी ठीक है न?”²

डॉ. शिवाजी देवरे के मतानुसार “नाटक तत्कालीन परिवेश के बहाने युगों की परिस्थितियों से साक्षात्कार कराता है। प्रस्तुत नाटक कबीर के जीवन एवं परिवेश को व्याख्यायित करता है और समकालीन, सामाजिक,

¹ नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधौ, पृ : 70

² नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधौ, पृ : 63

राजनीतिक व धार्मिक जैसी युगीन समस्याओं से इसके मूल भाव को जोड़ता है।”¹

इन तीनों नाटकों के ज़रिए नाटककारों ने वर्तमानकालीन धर्मान्धता के माहौल में मध्यकालीन, कबीर जैसे फक्कड़ व्यक्तित्व की प्रासंगिकता पर बल दिया है। नरेन्द्र मोहन ने ‘कहै कबीर सुनो भाई साधौ’ की भूमिका में व्यक्त भी किया है - “कबीर पर सोचते और लिखते हुए मैं वर्तमान से छलांग लगाता हूँ, इतिहास में और इतिहास से पुनः वर्तमान की विभीषिका में, अपने समय और युग में। कबीर और उनसे जुड़े समय और इतिहास का अध्ययन करते हुए मैं बार-बार अपने समय और युग में लौटा हूँ।”²

डॉ हरिमोहन शर्मा के शब्दों में “कबीर को विषय बनाकर नाटक लिखने वाले इन नाटककारों ने अपने युग से निरपेक्ष होकर सिर्फ मध्ययुगीन कबीर को अपने नाटकों में उतरा है – शायद न्यायसंगत नहीं होगा। बल्कि यह कहा जाये तो अधिक संगत होगा कि – प्रत्येक कलाकार ने अपने-अपने ढंग से या दृष्टि से अपने कबीर को खोजने का प्रयास किया है। जिसमें कबीर को रचने के बहाने अपने युग और आत्म संघर्ष को अभिव्यक्ति दी है।”³ इससे स्पष्ट होता है कि कला की सारी विधाएँ ज़रूर ही कलाकार के

¹ शिवाजी देवरे, नाटककार नरेन्द्र मोहन, पृ : 34

² नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधौ, भूमिका

³ डॉ नरेन्द्र मोहन (सं), समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ : 256

विकसित मानव चेतना की सर्वोत्तम परिणति होती है। अपने समय के सर्वाधिक संवेदनशील और जागरूक व्यक्ति होने के नाते वह अपनी कृति के माध्यम से युग सत्य का उद्घाटन करने के साथ-साथ भविष्य की संभावनाओं का संकेत भी करता है। कबीर की तरह ओर भी अनेक ऐतिहासिक संवेदनशील कलाकारों के ज़रिए रचनाकारों ने अपने चित्त के उद्देश की पूर्णता दी है। ऐसे एक है नरेन्द्र मोहन के द्वारा रचित संत कवि तुकाराम को केन्द्र बनाकर लिखा गया नाटक 'अभंग गाथा'। इसमें भी तुकाराम द्वारा कलाकार के सत्यान्वेषी व्यक्तित्व का प्रतिपादन किया है। संत तुकाराम आजीवन सत्य के प्रति निष्ठावान व्यक्ति थे। पल-पल कचोटती ज़िन्दगी के दुःखते कसकते, जलते संदर्भों से आर्जित किए सच और साहस को उसने अपने अभंगों की वाणी द्वारा प्रकाशित करना चाहा। उन्होंने मर्मन्धिक पारिवारिक संतोषों से अस्तित्व के निषेध तक और वहाँ से पलटकर आत्मबोध की अवस्थाओं तक गहरे अंतरद्वंद्वों से आत्म संघर्षों तक और वहाँ से संघर्ष की व्यापक सामाजिक भूमिकाओं तक सच को कमाने और पाने की कीमत चुकाई थी। कबीर की तरह उच्च वर्ग द्वारा प्रताड़ित, अपमानित, लांछित होने पर भी सच पक्ष को निर्भीक होकर दृढ़ता पूर्वक थामे रखकर समाज के अत्याचारियों के विरुद्ध आवाज़ उठाते रहे। "सत्य की खोज में आगे बढ़ा, व्यक्ति रहस्य के परदों को एक-एक कर उतारता जाता है और आम आदमी के करीब आता जाता है, जैसे संत कबीर।"¹

¹ नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 70

कबीर की तरह उनकी रचनाओं में भी सामाजिक यथार्थ भरपूर रहे। “उसके करीब महसूस करता हूँ। उसकी तरह सच और आम आदमी के मिलन बिंदु पर खड़ा हूँ अपने अभंगों के साथ।”¹

कबीर की तरह सामाजिक प्रतिबद्ध होने के कारण, धर्म में फैले पाखण्ड, आडम्बर छुआ-छूत आदि के खिलाफ उनका भी मन आग-सा दमका था और यह आग अभंगों के रूप में बाहर निकली। इन अभंगों में पंडितों और विद्वानों की बौद्धिक काहिली और बेईमानी के खिलाफ विद्रोह का स्वर अधिक मात्रा में देख सकता है। अतः सामाजिक जागरण ही उनका लक्ष्य था - “तुम समझते क्यों नहीं पाटिल कि स्वाधीन ढंग से जीना और जीने के लिए प्रेरित करना अराजकता नहीं, सच के लिए जीना है।”² उनकी इन प्रवृत्तियों से उनकी जिन्दगी का हर प्रसंग युद्ध का प्रसंग बन जाता है, वहाँ वह अभंग रूपी तलवार द्वारा लड़ते रहे। इस युद्ध में उन्हें पराजित करने के लिए धर्म के पूंजीपतियों ने उनकी अभंग, पाण्डुलिपियों से पत्थर बाँधकर नदी में डुबो दिया और अभंग रचना उनके लिए निषिद्ध ठहरा दी जाती है। कलाकार पर नियंत्रण का स्वर पंडित रामेश्वर भट्ट से ऐसे निकलते है - “मेरा आदेश है कि तुकाराम के अभंगों की पाण्डुलिपियों के साथ पत्थर बाँधकर उन्हें इंद्रायणी नदी में डुबो दिया जाए। भविष्य में

¹ नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 70

² नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 71

उसके लिए अभंग-रचना निषिद्ध कर दी जाए और उसे धर्म विरोधी, अराजक आचरण के कारण गाँव से निष्कासित कर दिया जाए।”¹

लेकिन यहाँ कला और कलाकार की ही विजय होती है। तुकाराम पर इतना नियंत्रण लगाने पर भी उनकी रचना लोगों की याददाश्त की नदी में तैरते हुए, उनके कंठों से होते हुए सीधा बहती रही। कला एक प्रवाह है, जिसे बाँधना सत्ता की किसी भी शक्ति के लिए असंभव है। यह सुर-सरिता जैसा सीधा बहती ही रहेंगी।

मानवीयता किसी भी आदर्श व्यक्तित्व की कसौटी है। वे इस मानवीयता को अपना धर्म समझते हैं। ऐसे एक व्यक्तित्व का प्रतीक है ‘मानस का हंस’ का गोस्वामी तुलसीदास। अमृतलाल नागर द्वारा रचित उपन्यास ‘मानस का हंस’ में गोस्वामी तुलसीदास को ऐसा चित्रित किया गया है कि वे अपने जीवन काल में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए संघर्षरत रहे। विकृतियों, विद्रोहों, पाखंडों आदि के विरुद्ध उनका अविराम संघर्ष होता रहा। मानवीयता यानी मानवीय मूल्यों के प्रति अधिक आस्थावान होने के कारण वह धार्मिक क्षेत्र की किसी भी मनोवृत्ति का समर्थन नहीं करते थे। राम के अनन्य भक्त होने पर भी शिव की उपासना करना, अयोध्या की बाबरी मस्जिद में जाना आदि उनका चर्या रहे। ताकि उन्हें किसी भी वर्ण तथा धर्म के प्रति कोई दुर्भावना नहीं थी - “रामभद्र

¹ नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 73

आप साक्षी है, मैं ने इस मस्जिद से अपने मन में कभी कोई दुर्भाव नहीं रखा। पूज्य भूमि इस रूप में भी पूज्य है। अब भी वहाँ निर्गुण निराकार पारब्रह्म के प्रति ही माथा झुकाया जाता।”¹

धर्म के संबंध में उनका मत सांप्रदायिक न्याय और सदाचार से है। उनके अनुसार मानव मात्र का धर्म एक है अपनी भावनाओं के अनुकूल लोग अपने आराध्य की कल्पना करते हैं। व्यापक मानवीय मूल्यों पर विश्वास रखने के कारण किसी भी स्तर पर क्षुद्रता, स्वार्थ परता, दुर्बलता और भ्रम की स्थिति उन्हें स्वीकार नहीं था। लेकिन तुलसी का तत्कालीन समाज धर्म के क्षेत्र में व्यावसायिकता और सांप्रदायिकता से भरा हुआ था। पंडित लोग धर्म के ठेकेदार के रूप में माने जाने पर भी अपने व्यावसायिक लाभ के लिए नीचतम व्यक्तियों की भांति व्यवहार करते थे। इसलिए वे धर्म के वास्तविक प्रणेता, मूल्य धर्मों चेतना से प्रतिष्ठित तुलसी को अपना शत्रु मानने लगे। लोकभाषा में रामकथा लिखना और इसे सुनाकर अयोध्यावासियों में भक्ति एवं शांति की भावना द्वारा आश्वासन देना, ये सब उन्हें हित न लगे - “वह जो अब रामायण लिख रहा है, समझ लो कि हमारे विरुद्ध एक भीषणतम षडयंत्र रच रहा है। उसी दम्भी का दुस्साहस तो देखिए। आदि कवि महर्षि वाल्मीकी जी के परम पुनीत काव्य के रहते भये भाषा में काव्य रचना क्या उचित बात है? मतलब यह है कि वह तो

¹ अमृतलाल नागर, मानस का हंस, पृ : 167

कथा बांचने की सारी परिपाटी ही बदल डालेगा।”¹ वे प्रकोपित होकर एक दिन रात ‘रामचरित मानस’ की चोरी का श्रम करता है। एक गर्भवती स्त्री का सहारा लेकर उसे अपमानित करने की योजना करते हैं। इसी घटनाओं से मनमस्तित होकर तुलसी अयोध्या छोड़कर काशी की ओर निकलते हैं। वहाँ भी कथा वाचन के समय उन्हें अपने विरोधियों के द्वारा भेजे गए भाड़े के निंदकों से अधिक कष्ट झेलना पड़ता है। वे उनके ‘मानस’ की रचना के काम में बाधाएं पहुँचाते हैं। तब उसने बहुत व्यथित होकर अपने छद्मनिंदकों और प्रशंसकों की भीड़ से कहता है - “ भाई अब प्रश्नों को समाप्त कीजिए, समझ लीजिए कि न तो कोई मेरी जाति- पाँति है और न मैं किसी की जाति-पाँति से कोई प्रयोजन ही रखना चाहता हूँ। न मैं किसी के काम का हूँ न कोई मेरे काम का है। मेरा लोक-परलोक सब कुछ रघुनाथ जी के हाथ है। उन्ही के नाम का भारी भरोसा है।”²

बचपन से ही तडपने वाले जीवन संघर्ष ने उन्हें बहुत दुःखी बना दिया था। वास्तव में यह संघर्ष ही उनकी प्रेरणा थी। मेघा के शब्दों में - “तुम्हारे महाकाव्य की रचना के लिए यही अंतर्द्वंद्व कथाचित आवश्यक है - तपे जाओ, मेरे भैया - यही तो दुःख में सुख है।”³ इस अतिसंघर्ष के वातावरण में उसने ‘मानस’ का अरण्य काण्ड रचा था।

¹ अमृतलाल नागर, मानस का हंस, पृ : 271-272

² अमृतलाल नागर, मानस का हंस, पृ : 203

³ अमृतलाल नागर, मानस का हंस, पृ : 205

धार्मिक प्रतिकूलताएं गोस्वामी जी के सामने कठिन चुनौतियों के रूप में उपस्थित होती हैं तो अनुकूलताओं से प्राप्त ऊर्जा ने कर्तव्य पथ के प्रति संकल्पशील बनाया। संगतियों और विसंगतियों के बीच होने वाले मानसिक संघर्ष ने उन्हें धर्म के तात्विक ज्ञान के प्रति निष्ठावान बनाया। उन्होंने आत्म विश्वास के साथ घोषित किया - “मेरी रामायण जन-जन की हृदय गंगा में नरी बनकर तैरेंगी। रामकृपा से यह कथा अवश्य होगी। शंकर भोलानाथ स्वयं मेरी कथा सुनेंगे।”¹

भोजपुरी के महान कलाकार भिखारी ठाकुर के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया संजीव का उपन्यास है ‘सूत्रधार’। धर्म प्रधान भारतीय समाज में एक दलित कलाकार को अपने स्वतंत्र अभिव्यक्ति के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है, इसका जीवन्त दस्तावेज़ है यह उपन्यास। यह सतह से उड़ते हुए आदमी की संघर्ष कथा है। जाति-प्रथा से पीड़ित भारतीय समाज में दलित, सवर्ण वर्चस्ववादी समाज की ज्यादतियों और जातीय अवमानना के तले दबकर, हाशियेकृत ज़िन्दगी गुज़ारने के लिए अभिशप्त है। ऐसे सामाजिक व्यवस्था में नाई जाति में जन्में भिखारी ठाकुर को अपने जीवन काल के पग-पग पर वर्ण व्यवस्था और जातीय भेदभाव से जूझना पड़ा। एक साधारण मानव से अधिक एक संवेदनशील कलाकार होने के कारण यह स्थिति उनपर गहरा प्रभाव डालता है। जिस समय भिखारी

¹ अमृतलाल नागर, मानस का हंस, पृ : 220

ठाकुर नाई से कलावंत बनने का प्रयास कर रहे थे उस समय सब सवर्णों ने पग-पग पर उन्हें अपमानित करने, उनके आत्मविश्वास को कुचलने में कोई कसर न छोड़ी और उन्हें बार-बार 'नाई' होने का अहसास दिलाया।

सूत्रधार द्वारा संजीव ने भारतीय समाज की जाति व्यवस्था की कटु और निर्मम आलोचना की है। भिखारी ठाकुर को एक कलाकार होने पर भी अपने जीवन काल में कई स्तरों पर संघर्ष करना पड़ता है। उनके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है उनका नाई होना।

जातीय अपमानता में मायूस होकर भिखारी अपनी पढाई-लिखाई बीच में छोड़ते हैं। बाद में पिता दलसिंगार ठाकुर के साथ अपना पुश्तैनी धंधा जजमनिका में हाथ बँटाने एकौना पहुँचते हैं तो वहाँ भी उन्हें जातिगत भेदभाव से जूझना पड़ा। इस त्रासद वातावरण में अपने भीतर के संवेदनशील कला हृदय को नाई के घेरे से बच लेने का प्रयास उनके द्वारा होता है - “तो क्या यूँ ही टहलुआई करते बीत जाएगी पूरी उमर? मन में अजीब सी खलल है। इसे फंदे से छुटकारा पाए बिना गति नहीं, असहनीय पीड़ा, जैसे अंडे से कोई चूजा निकल आने की जद्दोजहद में हो।”¹

सवर्ण जातीय वर्चस्व से दूषित अपने समाज में कला को अमोघ अस्त्र बनाकर एक सुव्यवस्थित समाज के निर्माण में सार्थक हस्तक्षेप करना भिखारी ने अपना धर्म समझा। उन्होंने रामलीला, रास लीला और नौटंकी

¹ संजीव, सूत्रधार, पृ : 47

से प्रेरणा ग्रहण करके लौडों के अश्लील नाच को मरजाद के घेरे में बाँधा, तद्वारा उसको सृजनात्मक साहित्यिक एवं कलात्मक ऊँचाइयाँ प्रदान की है। वे अपनी कला में तत्कालीन समाज के तमाम विसंगतियों एवं निम्नतम मान्यताओं पर तीखा प्रहार करते हैं - “मैं कुँवर सिंह से ज्यादा रामानन्द सिंह को जानता हूँ, मंगल पाण्डे से ज्यादा साधू गोसाईं को, मोरध्वज दंपति के ज्यादा अपने मुझे धोबइन भौजी और भइया लगते हैं, बाभन राजपूत से लेकर चमार दुसाध तक सभी। बड़े लोगों की बड़ी बात उनकी महानता की दास्तान, विद्वान् पंडित, ज्ञानी लोग लिखेंगे। देश-दुनिया के बारे में बड़का-बड़का नेता गान्धी बाबा, जय परकाशजी राजेन्द्र बाबू सोचेंगे, मुझे तो दुखों से छलनी हो जाए, मुँह दुबरे लोगों के बारे में सोचने दो, जिन्हें मैं जनम से देखता रहा हूँ, चीन्हता रहा हूँ।”¹

‘बिदेसिया’ भिखारी का प्रमुख नाच थी। इसके अलावा ‘बेटी वियोग, पिया निसइलन, गवर घिचोर’ आदि लोक नाटकों के माँफत भिखारी ठाकुर ने अपनी व्यक्तिगत पीड़ा प्रकट करने के साथ तत्कालीन समाज की तस्वीर भी पेश की। उनका यह नाच लोगों की आत्मा को झकझोरने लगा। “औपनिवेशिक भारत में जब राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा भी स्पष्ट नहीं थी उस दौर में भिखारी ठाकुर अपने लोक नाटकों के माध्यम से समाज के भीतर मारी उलट फेर के साथ सामाजिक परिवर्तन कर रहे थे। भिखारी

¹ संजीव, सूत्रधार, पृ : 54

ठाकुर हाशिए पर पड़े उन लोगों की जुबान बने हुए थे जिनकी कोई आवाज़ नहीं थी। वे स्त्रियों के भीतर आवाज़ पैदा कर रहे थे। अपनी श्रेष्ठता के ज़रूर में ऐंठी हवेलियों, ड्योढियों जहाँ न्योता देने भिखारी जाते थे और कोई पानी भी नहीं पूछता था – उन घरों की राजमाताओं, बेटियों और बहुओं को भिखारी ठाकुर ने चारदीवारियों की कैद से बाहर निकाला।¹ इस प्रकार उनका लोकनाट्य तत्कालीन समाज के लिए एक चुनौती बनती है। सवर्ण वर्ग इनके नाटकों से तिलमिला जाते हैं और उसके विरुद्ध हंगामा करता है। नउआ और कलाकार की खिंचेतान काफी दिनों तक चलती रही अंत में कलाकार की जीत होता है। जब नाई की केंचुल फाटकर भिखारी कलावंत का जामा पहनने की कोशिश करते हैं तब सवर्ण उनकी प्रतिभा को कुंठित करने और उनके आत्म विश्वास को कोंपल से तोड़ने का प्रयास करते हैं। वे निर्दय होकर उन्हें बार-बार जातिगत हैसियत और औकात की याद दिलाते रहे। जब भी भिखारी कागज़ कलम उठाते रहे, तब वे किसी न किसी बहाने बनाकर उसके पास आते हैं। इससे इनके सृजन कर्म में बाधा पहुँचाना, यही उनका उद्देश्य था। इससे भिखारी बहुत अधिक विवश और निराश होते हैं - “कोई बाबा जी या बाबू साहब आते हैं तो --- उनसे कुशल क्षेम पूछना पड़ता है। किसी किसी की दाढ़ी, बाल या नाखून उन्हें देखते ही उग आते हैं। फिर उसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। ---- कुछ लोग

¹ राजकुमार, पार्टनर! तुम्हारी जाति क्या है, हंस नवम्बर 2003, पृ : 94

तो सिर्फ अपने रूतबे का स्तर परखने के लिए आते जाते है, भिखारी उन्हें देखकर, कागज़-कलम फेंककर तखत से हडबडाकर नीचे उतर प्रणामी में झुककर खड़े हो जाते है, आत्म विश्वास बढ़ जाता है, जबान बडप्पन में पिलपिली हो जाती है --- तभी तो लोग कहेंगे की भिखारिया नउआ बहुत सज्जन, सुशील और नेक है।”¹

मानव-मानव को एक सूत्र में बाँधने वाली कला के क्षेत्र में जातीय वर्चस्व की भीषणता जारी है। यहाँ अत्यंत प्रतिभावान कलाकार होने के बादजूद भी कला के क्षेत्र में दलित होने के नाते अपनी प्रतिष्ठा और पहचान के लिए संघर्ष करना पड़ता है। सूत्रधार में भिखारी ठाकुर अपनी रचनाओं के ज़रिए तत्कालीन समय और समाज की ज्वलंत समस्याओं को विस्तृत मायने में परखने का सार्थक प्रयास करते है इसी कारण उनकी रचनाओं को खूब जन स्वीकृति भी मिलती है। लेकिन उनकी ये कृतियाँ साहित्य गोष्ठियों और चर्चाओं से हमेशा बाहर रही। यह भिखारी ठाकुर एक प्रतिभा संपन्न कलाकार न होने के कारण से नहीं बल्कि वे एक दलित है। उपन्यास के एक प्रसंग में हिन्दी के मशहूर लेखक शिवपूजन सहाय, बिहार राष्ट्रभाषापरिषद् और भोजपुरी परिषद् की ओर से आयोजित भोजपुरी व्याख्यान माला में भाग लेने के लिए भोजपुरी के प्रतिष्ठित लोक कलाकार भिखारी ठाकुर को ससम्मान आमंत्रित करते है। लेकिन इस संगोष्ठी में

¹ संजीव, सूत्रधार, पृ : 105

भिखारी की रचनाओं की मौलिकता के बारे में विवाद उड़ता है। गणेश चौबे जैसे जातीय अहं पालने वाले सवर्ण विद्वान भिखारी ठाकुर की रचनाओं को तुलसी आदि की नकल घोषित करते हैं। कुछ विद्वानों की राय में महेंद्र मिसिर की पुरबी के सामने भिखारिया की पुरबी टिकती नहीं है। इन विद्वानों द्वारा भिखारी ठाकुर की महत्ता, भोजपुरी लोक नाट्य के लिए उनके योगदान को नज़र अंदाज़ करके उन्हें अपमानित करते हैं। लेकिन परवाह रहने की बात यह है कि ये लोग ही भिखारी ठाकुर की रचनाओं की नकल छपवाकर शोहरत कमाते थे।

सवर्ण समाज के लिए 'भिखारिया' नचनिया था, भौंड था, लौंडा था। इसलिए उच्चकोटि का नाच प्रस्तुत करने के बावजूद उच्च घराने के सदस्य भिखारी और उनके नाच को सरेआम नकारते हैं और आरोप लगाते हैं कि भिखारिया लोगों को पथ भ्रष्ट का समाज को पतन की रास्ते में चलाते हैं। वे उन्हें समाज द्रोही का रूप देने का प्रयास करते हैं। यह देखकर नीचे तबके के सदस्य भी भिखारी के नाच देखने से अपने प्रियजनों पर बंदिश लगाते हैं। लेकिन इनकी यह प्रवृत्ति निष्फल हो जाते हैं। कड़ी मनाही के बावजूद सभी जाति के सदस्य चोरी-चुपके भिखारी का नाच देखने और उनमें सक्रिय साझेदारी निभाते जाते हैं। जिन्होंने भिखारी को पीटा-मारा था वे भी वास्तव में भिखारी के नाच की खुमारी से मुक्त नहीं थे और चुपके-चुपके भिखारी का नाच देखने जाते थे। इसमें असफल होते हैं तो अपनी महफ़िल में उनके नाच का आयोजन करते थे। इस तरह धार्मिक क्षेत्र के तीषण

ताण्डव के वातावरण में भी भिखारी की कला सामन्ती ढाचों और सवर्ण वर्चस्व को तोड़ने में सफल सिद्ध होती है।

हरेक रचना स्वतंत्रता के उद्यान में खिलती है। इसकी शोभा उस पौधे के स्वास्थ्य के अनुसार होगा, जिसमें वह खिले है। इससे स्पष्ट होता है की हरेक रचना के पीछे रचनाकार की परिवेश गत स्वतंत्रता का प्रबल प्रभाव है। इस स्वतंत्रता के रक्षार्थ रचनाकार कोई भी कष्ट सहने के लिए तैयार होता है। कालिदास को ऐसे रचनाकार का प्रतीक बनाकर लिखा गए सुरेन्द्र वर्मा का चर्चित नाटक है, 'आठवाँ सर्ग'। धर्म और राजसत्ता द्वारा कलाकार की रचनात्मकता और स्वायत्तता को कैद कर लेने पर कलाकार की सृजनेच्छा की छटपटाहट का मार्मिक अंकन इसमें हुआ है।

इस नाटक का कथ्य विवाहोपरांत शिव और पार्वती की प्रेम-क्रीडाओं के स्वच्छन्द वर्णन से सम्बंधित है। कवि कालिदास ने 'कुमार संभव' के इस आठवेसर्ग की रचना पूर्ण श्रम और मनोयोग से की थी। राजा द्वारा आयोजित एक विशेष समारोह में सबके समक्ष कवि कालिदास इस सर्ग का पाठ करते हैं। जब महादेव की क्रीडाकेली का प्रसंग आते हैं तब धर्म गुरु, जो पूरे बीस वर्ष मंदिर से बाहर नहीं निकले थे, इस अंश पर अश्लीलता का आरोप लगाकर इसे प्रतिबंधित करने की मांग करते हैं। राजपुरोहित, धर्माध्यक्ष, महादंड नायक आदि सब कुछ धर्म गुरु को इस बात का समर्थन करते हैं। अनसूया के शब्दों में "क्रीडाकेलि से महादेव का मन नहीं भरा ----

- त्यों ही क्रोध से तमतमाया चेहरा लिये धर्म गुरु खड़े हो गये और गरजकर बोले की यह सर्ग अत्यंत अश्लील है। जगत पिता महादेव और जग-जननी पार्वती के भोग विलास का ऐसा उद्दाम, ऐसे स्वच्छंद, ऐसा नग्न चित्रण। --
- इसका रचयिता पापी है। इसके श्रोता पापी है। ----ऐसे अधर्मी और अनाचारी कवि के सम्मान समारोह में जो भाग ले, वह पापी है। जो उसका निमित्त बने, वह पापी है। जो उसमे सहायता दे, वह पापी है। ----
तुरन्त राज पुरोहित और धर्माध्यक्ष खड़े हो गये और सम्राट से क्षमा माँगने लगे कि - वे इस आयोजन में भाग नहीं लेंगे। महादंड नायक ने कहा कि यह सर्ग अत्यंत मर्यादाहीन है। मंत्री-परिषद् के पाँच-छः वृद्ध सदस्य बोले कि उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँची है। तभी व्यापारी संघ के प्रधान सोमदत्त खड़े हुए और कहने लगे कि यह बहुत अश्लील है। प्राध्यापक विद्याभास्कर ने मांग की कि 'कुमार संभव'पर प्रतिबंध लगाया जाए, क्योंकि कच्चे मस्तिष्कों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।¹ फलतः राजा द्वारा काव्य पाठ रोकदिया जाता है।

फिर कुमार संभव में अश्लीलता की जाँच करने के लिए एक न्याय समिति बनायी जाती है। विडंबना की बात यह है कि - इस समिति में जिन लोगों की नियुक्ति हुई, उनका काव्य से कोई संबंध नहीं है। इन लोगों द्वारा होनेवाला मूल्यांकन निश्चय ही उनके स्वार्थ हितों के अनुसार ही

¹ सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ: 38

होगा। यहाँ प्रसिद्ध मराठी साहित्यकार डॉ. गंगाधर गाठशील का कथन सत्य सिद्ध होता है कि -- “जहाँ तक साहित्यक मूल्यांकन का प्रश्न है, पुरस्कार कोई विश्वनीय माध्यम नहीं है। समितियों द्वारा साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो सकता, यह तो नितांत वैयक्तिक निर्णय होता है।”¹ आठवें सर्ग पर बदलाव लाने का समिति का निर्देश कालिदासने स्वीकार नहीं किया। लेकिन समिति के आतंक और शासन के दबाव में विवश होकर वह ‘कुमार संभव’ को अधूरा छोड़ देता है। “कुमार संभव को मैं अधूरा ही छोड़ दूँगा, आठवें सर्ग पर ---- आगे नहीं लिखूँगा। इस रचना को एक प्रकार से भुला ही दूँगा। यह कभी मेरे घर से बाहर नहीं निकलेगी। किसी गोष्ठी में इसका पाठ नहीं होगा। किसी तक इसकी प्रतिलिपि नहीं पहुँचेगी। ---- इतने से लोग संतुष्ट हो जायेंगे? फिर तो किसी को आपत्ति नहीं होगी?”²

यहाँ एक कलाकार की सृजनात्मक व्यक्तित्व की संवेदना, अडिग व्यक्तित्व, कला के प्रति ईमानदारी आदि स्थापित होते हैं। कालिदास के माध्यम से कलाकार के युगीन समस्या को प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है। आपातकाल के दौरान प्रकाशित इस नाटक में प्रेस पर लगी सेंसरशिप की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है। अभिव्यक्ति स्वतंत्रता की यह पीड़ा अधिकतर लेखकों, विचारकों और बुद्धिजीवियों की पीड़ा है।

¹ डॉ. गंगाधर गाठशील, सारिका 1 सितम्बर 1978, पृ: 43

² सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ: 58

धर्म और नैतिकता के नाम पर 'कुमार संभव' को अवैध ठहराने का जो साजिश राजपुरोहित, धर्माध्यक्ष, महादंडनायक और धर्म गुरु के द्वारा होता है उससे सम्राट चन्द्रगुप्त अवगत भी है। लेकिन इन्हें प्रकोपित करना वह नहीं चाहते हैं क्योंकि वे सत्ता के आधार स्तम्भ हैं – “पर आज जो स्थिति है, उसमें मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं बिलकुल असहाय हूँ, मेरे हाथ बंधे हुए हैं, क्योंकि आरोप लगाने वालों के शरीरों पर धर्म का अभेद कवच है।”¹

अतः कह सकते हैं कि आठवाँ सर्ग नामक नाटक, कलाकार के अंतरसंघर्ष एवं उसकी अभिव्यक्ति स्वतंत्रता से संबंध रखता है। इसमें रचनाकार यह दिखाना चाहते हैं कि - राजनीति और धर्म के गठबंधन से अनेकों बार कलाकार की कला को व्यवस्था की चौखट पर विवश होकर दम तोड़ देना पड़ा है। इस में कालिदास का द्वंद केवल कालिदास का ही नहीं वरन् कला के प्रति समर्पित सभी कलाकार का द्वंद है। धर्म तंत्र की आड़ में साहित्यकार की स्वतंत्र चेतना पर अंकुश एवं कलाकार की सृजनशीलता का द्वंद केवल ऐतिहासिक नहीं बल्कि यह समकालीन कला के लिए प्रासंगिक भी है। एम.एफ.हुसैन, तसलीमा नसरीन सरीखे कलाकार का जीवन इसका प्रमाण है।

श्लील अश्लील के बहाने कलाकार के स्वतंत्र सृजन में रोक लगाने वाली धार्मिक शक्तियों पर विचार करने वाले ओर एक नाटक है शंकर शेष

¹ सुरेन्द्र वर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ: 55

का 'खजुराहों का शिल्पी'। इसमें राजा यशोवर्मन द्वारा खजुराहों के अद्वितीय शिल्प निर्माण की कथा विन्यस्त की गयी है। वह ऐसे शिल्प की कल्पना करता है -- जो मनुष्य को मोह के क्षण से मुक्त कर सके -- मनुष्य को पतन की ओर जाने से रोके। ऐसे अद्वितीय शिल्प के निर्माण के लिए वह एक ऐसा शिल्पी को ढूंढता है जो कवि हो, जिसे पत्थर की आत्मा का बोध हो, ऐसा शिल्पी जो दार्शनिक भी हो, जो संसार के गतिचक्र से आत्मा को निकालकर उस निस्संग भाव तक पहुँचा दे। इस तरह के शिल्पी की तलाश शिल्पी मेघराज आनंद को पाने से पूरी होती है। शिल्पी मेघराज भी राजा यशोवर्मन के जैसे 'मोह के क्षण' को दूर करने वाले मंदिर बनाने की कल्पना में रत थे। वह ऐसा मंदिर बनाना चाहता है जिसमें देवी-देवताओं, वीर योद्धाओं की, जनजीवन के उत्सव और संस्कृति को प्रतिबिंबित करती प्रतिमाओं के साथ-साथ मनुष्य जीवन की वे प्रतिमाएँ भी होंगी जिन्हें गोपनीय और निजी कहकर आवरण में छुपाया जाता है। "मैं बिना हिचक के उन सभी दृश्यों को अंकित करूँगा, जिन्हें मनुष्य निजी जीवन में जीता है, पर बाहर जिनका विरोध करता है। प्रेम की ललक शरीर की भूख, कामासक्ति की प्राकृतिक और अप्राकृतिक कोई भी अवस्था नहीं छूटेगी।"¹

शिल्पी की कल्पना की मिथुन मूर्तियों के प्रति यशोवर्मन चिंतित करता है। शिल्पी इसको समर्पित करता है --- "इनके बिना संसार अधूरा

¹ शंकर शेष, खजुराहो का शिल्पी, पृ : 40

है, महाराज : रति, काम-क्रीडा मनुष्य-जीवन की सबसे गहरी स्थितियाँ है। भूख के बाद काम ही जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण है। एक का संबंध अस्तित्व से है, तो दूसरे का जीने से। गोपनीयता आत्म रति को जन्म देती है, महाराज। आप विश्वास रखिए, कला के स्तर पर आकर कुछ भी अश्लील नहीं रह जाएगा।”¹ शिल्पी के विश्वास दिलाने से राजा संतुष्ट हो जाता है और मंदिर निर्माण की अनुमति देता है। लेकिन मंदिर के निर्माण के बीच इन मिथुन मूर्तियों को लेकर विरोध का वातावरण उभरता है। धर्म और संस्कृति की रूढ़ व्याख्या करते हुए धर्म गुरु और राजदरबार से निष्कासित शिल्पी चन्द्रवर्मा के लोग, शिल्पी पर विलासी, चरित्र हीन, दुराचारी होने के साथ साथ अश्लीलता का सार्वजनिक प्रदर्शन करने और जनता की धार्मिक भावनाओं का अपमान करके सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने का आरोप लगाते हैं धर्मगुरु के शब्दों में –मतभेद उन मिथुन मूर्तियों को लेकर है, राजन। कामासक्ति और वासना का इतना खुला प्रदर्शन क्या प्रजा में विकृति को प्रोत्साहन नहीं देगा? ---- महाराज क्या इन मिथुन मूर्तियों का इन मंदिरों में रहना आवश्यक है? मंदिर की रक्षा की अपेक्षा प्रजा की उस धार्मिक भावना की रक्षा आवश्यक हैं जो नैतिकता और पवित्र जीवन में विश्वास रखती है।” आगे “मेरा एक ही प्रश्न है, कविवर, क्या वात्स्यायन के कामसूत्रों का इतना सजीव चित्रण कर प्रजा

¹ शंकर शेष, खजुराहो का शिल्पी, पृ : 41

की उन पाशवी भावनाओं को कुरेदना जरूरी है, जो उसे पतन की ओर ले जाती है?"¹

धर्म गुरु के अनुसार मंदिर में इन मिथुन मूर्तियों के द्वारा धर्म का अवमूल्यन होगा। लेकिन शिल्पी इनके इस विरोधों में भयासक्त नहीं होता है। समझौता करना उनके व्यक्तित्व नहीं था --- "चाहे मेरे प्राण चले जाएँ , पर मैं अपनी योजना में परिवर्तन नहीं करूँगा। अपने दर्शन को तिलाञ्जलि देने के बाद क्या रह जायेगा? अधिक होगा लोग मुझे पत्थरों में मारेंगे, मेरा बहिष्कार करेंगे। --- लेकिन मैं समझौता नहीं करूँगा।"²

कला में श्लील अश्लील के बहाने रूकावट पैदा करने वाले धार्मिक अनुयायी यह नहीं सोचता है की किसी वस्तु का सच्चा अध्यात्म या अनुभव वस्तु में निहित सौन्दर्य में ही होता है। सौन्दर्य कभी अपावन नहीं होता। उसका सच्चा बोध हो जाने के बाद श्लील और अश्लील का भेद मन से समाप्त हो जाता है।

विदेशी किंवदंति को आधार बनाकर लिखा गया। 1977 में प्रकाशित भीष्म साहनी का नाटक है 'हानूश'। इसका नायक हानूश भी ऐसा एक चरित्र है जो सजग प्रामाणिक सृजन शक्ति का, समाज की सनातन यथास्थिति वादी मान्यताओं से निरंतर संघर्ष का प्रतीक है। कलागत

¹ शंकर शेष, खजुराहो का शिल्पी, पृ: 68, 70

² शंकर शेष, खजुराहो का शिल्पी, पृ: 61

स्वतंत्रता को चरम मूल्य मानकर कला सृजन में स्वयं अर्पित कलाकार को हर युग में संकट झेलना पड़ता है। ऐसा एक पात्र है हानूश जो कठिन आर्थिक संकट के बीच में भी घड़ी बनाने के कार्य में लगे रहते हैं। घड़ी के निर्माण में लगे रहे तेरह साल तक गिरजाघर से उन्हें आर्थिक सहायता मिली रही। लेकिन बाद में हानूश पर उनका विश्वास कम हो गया। यह घड़ी कभी नहीं बन पाएगा इस विचार से उसने तेरह साल से दिये जाने वाले इमदाद नामंजूर कर दिया। यही हमारे समाज के धर्म के ठेकेदारों का यथार्थ चित्र है। उन्होंने कलाकार को सहायता इस उद्देश से किया था कि घड़ी बन जाएगी तो अपनी ही गिरजे पर इसे लगवा देंगे और भगवान् के घर की शोभा इससे बढ़ायेगी। उनके मन में यही स्वार्थता ही ठहरी थी। कलाकार को सहायता देना इससे कला सृजन की ओर प्रेरक बनना जैसी सदुद्देश उनके मन में नहीं थे। यह हरेक युग में घटित और घटित होने वाला सत्य है। धार्मिक क्षेत्र से जो कुछ सहायता कला या कलाकार को मिली है, तो उसमें उनकी निहित स्वार्थता ही प्रमुख होती है। साधारणतः धर्म प्रचारण ही उनके उद्देश्य होता है। यहाँ हानूश की सहायता करने से उनका लक्ष्य उस घड़ी को अपनाना था। जब इसमें संदेह हुआ तब वह ये सहायता बंध भी करता है। कलाकार के मन, इसका द्वंद इन सबका वे परवाह भी नहीं करते हैं। इतना ही नहीं वे झूठे अन्धविश्वास के नाम पर घड़ी बनाने से हानूश को रोकने का चाल भी करता है। हानूश को जब माली इमदाद की ज़रूरत थी वह लाट पादरी के पास भी गया था, तब उस पादरी ने झूठे

विश्वास के बकवास की थी -- “तुम शैतान की औलाद हो जो घड़ी बना रहे हो। घड़ी बनाना इंसान का काम नहीं, शैतान का काम है। घड़ी बनाने की कोशिश करना ही खुदा की तौहीन करना है। भगवान ने सूरज बनाया है चाँद बनाया है, अगर उन्हें घड़ी बनाना मंजूर होता तो क्या वह घड़ी बना सकते थे? उनके लिए क्या मुश्किल था? इस वक्त आसमान ने घड़ियाँ ही घड़ियाँ लगी होती। सूरज और चाँद ही भगवान की दी हुई घड़ियाँ हैं। जब भगवान ने घड़ी नहीं बनाई तो इंसान का घड़ी बनाने का मतलब ही क्या है?”¹

ऐसा माहौल हानूश के काल में ही नहीं अब भी जारी है। धर्म कला को संदेह की दृष्टि से ही देखता है। हर युग में धर्म और कला के बीच टकराहट होती रहती है।

गीत गोविन्द के प्रणेता जयदेव की जन श्रुत प्रेमकथा के आधार पर रचित लक्ष्मीकांत वर्मा का तिन्दुवुलम धार्मिक अनाचारों के खिलाफ विद्रोह करने के लिए आगे आने वाले ‘तिन्दुवुलम’ नामक कवि की निडरता और देवदासी प्रथा से अभिशप्त नर्तकी पद्मावती की करुण कहानी है। उच्च आदर्शों और उच्च विचारों से भरे गीतों द्वारा जनता को जाग्रत करने के कारण तिन्दुवुलम धर्माचार्यों द्वारा मंदिर से निष्कासित है। तिन्दुवुलम और जगन्नाथ मंदिर के महाप्रभु के लिए अर्चित देवदासी पद्मावती के साथ

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ: 62

रागात्मक संबंध होता है। पद्मावती, तिन्दुवुलम के गीतों से बहुत आकृष्ट थी। जगन्नाथ मंदिर के प्रतिष्ठापन के दिन रथ-यात्रा के समय पद्मावती द्वारा उनके गीत 'जय-जय हरे' का आलापन होता है। धर्माचार्य सत्यदर्शन इस गीत को, जो तिन्दुवुलम से रचा गया है, बंद करने की आज्ञा देता है, क्योंकि यह मंदिर से निष्कासित तिन्दुवुलम का गीत है। उनके अनुसार "इस गीत में आत्म विज्ञापन है, यह प्रार्थना नहीं, तिन्दुवुलम की कुत्सित मनोवृत्ति से निकला हुआ विष है।"¹ इसके साथ तिन्दुवुलम के बंदी बनाने की आज्ञा भी देता है – "बंदी कर लो उस तरुण दुस्साहसी विद्यार्थी को जिसने देवदासी पद्मावती को यह गीत सिखाकर प्रार्थना के स्वर में अपना अहंकार प्रकट किया है।"²

आचार्य सत्यदर्शन धर्म की रूढ़ियों से बंधित व्यक्ति है। उनके विचार में धर्म की मर्यादायें उनकी इच्छा-अनिच्छा से बनती बिगड़ती है – "पाप और पूण्य की परिभाषायें हमारी बनाई है वत्स। हम निरपेक्ष है। इसीलिए उनका निर्माण भी करते है। तुम्हारा कार्य है मात्र अनुकरण। धर्म के पक्ष को संतुलित रखना हमारा कार्य है। उसे स्वीकार करना तुम्हारा।"³ धार्मिक अनुयायियों के संबंध में डॉ. सुरेश गौतम एवं डॉ. वीणा गौतम का कथन

¹ लक्ष्मीकांत वर्मा, तिन्दुवुलम, पृ: 7

² लक्ष्मीकांत वर्मा, तिन्दुवुलम, पृ: 7

³ लक्ष्मीकांत वर्मा, तिन्दुवुलम, पृ: 8

यहाँ धर्माचार्य सत्यदर्शन के संदर्भ में समीचीन सिद्ध होता है – “धर्म के तथाकथित मठाधीशों की सुख-सुविधानुसार धर्म अपने कपडे उतारता-पहनता रहता है। इन ठेकेदारों के सुख-सौविध्य और लोभ-लालच ने मानव मन की श्रद्धा-विश्वास का जितना दम घोटा है किसी पूँजीपति ने भी किसी मज़दूर का शोषण नहीं किया होगा। स्थिति अनुसार उनका आचरण व्यवहार, धर्म-जीवन की परिभाषाएँ सभी कुछ अदलती-बदलती रहती है।”¹

धर्म प्रचारण एवं धर्म के सच्चे अर्थ को संरक्षण करने के लिए नियमित धर्माचार्य इस अधिकार से अहंकारी बन जाता है। वह कभी भी जनता के पक्ष में रहकर विचार नहीं करते है और जनपक्ष रहने वालों से तीखा विरोध भी प्रकट करता है “धर्म की ध्वजा कलंकित करने वालों को जनता का पक्ष स्वीकार है। हूँ ---- सत्यदर्शन ने अपने जीवन में अब तक पराजय नहीं स्वीकार की है। उसने जो चाहा है उसे लिया है ---- जो उचित समझा है उसे किया है। --- हूँ --- मेरे मंदिर में मेरा ही अनुशासन चलेगा --- जब तक मैं जीवित हूँ तब तक मेरी ही वाणी न्याय करेगी।”²

तिन्दुवुलम अपने और पद्मावती के बीच के रागात्मक संबंध में कोई अपमर्यादा नहीं देखता है। उनके अनुसार राधा-कृष्ण का प्रेम शुद्ध था। उसे

¹ डॉ. सुरेश, वीणा गौतम, राजपथ से जनपथ : नट शिल्पी शंकर शेष, पृ : 173

² लक्ष्मीकांत वर्मा, तिन्दुवुलम, पृ : 27

कोई भी लोक बंधन अपमर्यादा नहीं सिद्ध कर सकता। इसलिए वह अपने प्रेम को भी शुद्ध कहता है। ईश्वर और मनुष्य को पृथक करने की चेष्टा वे व्यर्थ मानते हैं। वे मनुष्य द्वारा ईश्वर तक पहुँचाता चाहते हैं। लेकिन सत्यदर्शन यह मानता नहीं है – “भ्रम में है --- मैं भ्रम में हूँ, काल नाच रहा है, उसके मस्तक पर, जानता नहीं सत्यदर्शन को --- मैं ने केवल उपासना ही नहीं की है। वत्स जयदेव यदि कहीं भी मिले तो उससे कह देना --- सत्यदर्शन अपने प्रतिद्वंद्वियों को चुटकियों में मसलना जानता है, धर्म का, परम्परा का, भगवान का सदैव ही से एक रूप रहा है और रहेगा ---- उसमें परिवर्तन नहीं हुआ करता।”¹

फिर धर्म परिषद की गोष्ठी में देवता के अपमान का अपराध, देवदासी को पथ भ्रष्ट करने का अपराध, ईश्वर को अर्पित वस्तु के अपहरण का अपराध, प्रभु के समक्ष घृणात्मक कृत्रिम वासनागीतों के अभिनय का अपराध आदि आरोपित करके तिन्दुवुलम को सज़ा देता है कि उसे देवालय में आने का अधिकार नहीं, यदि नगर के किसी कोने में दिखाई पड़े तो ज़िन्दा जला दिया जाएगा।

सत्ता की शक्ति से ज़रा भी विचलित न होने वाले तिन्दुवुलम परिषद के सामने खुल्लम-खुल्लम कहता है कि – मैं यह नगर छोड़कर नहीं जाऊँगा। पद्मावती मेरी है। उसे चाहे जितने कड़े बंधन में तुम बंदी बनाकर रखो, वह

¹ लक्ष्मीकांत वर्मा, तिन्दुवुलम, पृ: 32

मेरी होकर ही रहेगी। रोको आचार्य सत्यदर्शन मुझे ---- साहस हो तो रोको ---- मैं कायर नहीं आचार्य।”¹

तिन्दुवुलम अपनी अनुभूति एवं सृजन वासना को पाप कहना स्वीकार नहीं करते है – “क्या किसी की सत्य रसानुभूति को हठात् जघन्य समझना पाप नहीं है? क्या किसी भी सुन्दर सुगन्धित पुष्प की सुन्दरता को सुन्दर कहना पाप है? क्या किसी भी मनोरम दिव्य आभा की स्वीकृति पाप है? मेरा पाप क्या है आचार्य?”²

रचना द्वारा उच्च आदर्श और उच्च विचारों का जनसाधारण के बीच फैलाकर उसे जागृत बनाने वाले कलाकारों पर अंधविश्वासों और रूढ़ियों के जरिए प्रतिबंध लगाने की प्रवृत्ति, धार्मिक के बीच पुराने ज़माने से आज भी मौजूद है। इसे व्यक्त करने का प्रयास लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपने नाटक ‘तिन्दुवुलम’ में किया है।

धर्म और कलाकार का विद्रोह

धर्म एक सार्व भौमिक परिकल्पना है इसका इतिहास उतना पुराना है जितना सभ्य मानव के इतिहास है। अतः सभ्य मानव समाज में ही धर्म का उदय हुआ है। यह सामाजिक जीवन में नियंत्रण के लिए मनुष्यों द्वारा

¹ लक्ष्मीकांत वर्मा, तिन्दुवुलम, पृ : 58

² लक्ष्मीकांत वर्मा, तिन्दुवुलम, पृ : 50

बनाया गये एक प्रभावशाली साधन है। इस प्रकार धार्मिक नियंत्रण रखने के कारण व्यक्ति असामाजिक एवं घृणित कार्य करने से हिचकेगा और नैतिकता का प्रखर विकास होगा,यही इसका प्रमुख उद्देश होता है। इस प्रकार सदुद्देश रूप में बनाए गए धर्म का मुँह आज विकृत हो गया है। आज जगत में धर्म एक ऐसा रूढ़ शब्द बन गया है जो केवल मानव की संकीर्णता और समाज के ह्रास का कारण मात्र बना हुआ है। मानव को परस्पर स्नेह में बाँधकर रखनेवाले धर्म का नाम लेकर मानव परस्पर विद्रोह को जन्म देकर आपस में लड़ते हैं।

धर्म आज मानव समाज को अत्यंत संकीर्ण दिशा की ओर ले जा रहा है। आज धर्म प्रधान समाज विधर्मी होकर रहना साधारण जनता के लिए अचिंतनीय बात बन गई है। यहाँ परंपरागत धर्म में नैतिकता, आदर्श आदि के स्थान पर सांप्रदायिकता, जाति भेद, वर्ण भेद, पाखण्ड, छुआ छूत, शोषण, अत्याचार एवं अनाचार का जुआ खेल चल रहा है। यह साधारण जनता के मन में अन्तर्द्वन्द्वपैदा करता है। जब समाज से उत्पन्न अनुभव उनके आदर्शों, विचारों और भावों के अनुकूल न होते हैं तब वहाँ विद्रोह पैदा होता है। “एक विशेष सीमा तक व्यक्ति समाज के अनुकूल अपने को गढ़ता, स्वीकृत पाने का मूल्य चुकाता है, उसके बाद जब व्यक्ति का मर्म छुआ जाता है तो वह आहत होकर विद्रोह या चीत्कार कर उठता है।”¹

¹अज्ञेय, त्रिशंकु, पृ: 55

जब यह व्यक्ति एक संवेदनशील, सामाजिक प्रतिबद्ध कलाकार हो तो यह चीत्कार साधारण से द्विगुना असर डालते हैं। प्रत्येक रचना कलाकार की सृजन शक्ति की दस्तावेज़ है, जो उनकी संघर्ष पूर्ण मनस्थिति से उपजती है। अतः प्रत्येक कृति के मूल में इसके सृष्टा की क्षुब्ध, विवश, आकुल, अशान्तमनःस्थिति सक्रिय रहती है। संसार भर की महत्वपूर्ण एवं विख्यात रचनाओं के पीछे इसके सृष्टा का यही मनोव्यापार विद्यमान रहता है। हर युग में कलाकार अपनी परिवेश गत रूढ़ियों से संतुष्ट रहे हैं। सच्चा कलाकार अपने रास्ते में अड़चन लगाने वाले इन रूढ़िगत तत्वों मान्यताओं, आचारों एवं विश्वासों का विरोध एवं निराकरण करना अपना धर्म समझ लेता है और अपने समय की विषमताओं से क्षुब्ध होकर आक्रोश के साथ आगे बढ़ता है। वे टूटे हुए समाज को और जनता को एक सूत्र में बाँधने के लिए सदैव परिश्रम करते हैं। कटु यातनाओं का सामना करने पर भी वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता है। वे अपनी रचना के विद्रोही स्वरो द्वारा आम आदमी को अवगत कराने का प्रयत्न करते रहते हैं।

धार्मिक अनैतिकता और बाह्याडंबर के विरुद्ध विद्रोह

आज समाज में धर्म के नाम पर अनेक अनैतिक प्रवृत्तियाँ एवं बाह्याडंबर प्रचलित हैं। जिससे समाज के साधारण जन-विभाग का जीवन हिला-डुला है। वे वास्तव में इस धार्मिक अव्यवहार के बंधनों की जटिलता से ग्रस्त हैं। मूर्तिकार नाटक में शंकर शेष ने अनादि के ज़रिए धर्म के

रूढिगत व्यवहार पर तीखा विद्रोह प्रकट किया है --- “मैं अपनी माँ की मौत के साथ इतना भयंकर मज़ाक नहीं करना चाहता। जिस माँ के मुँह में मरते समय मैं पानी की एक बूँद न डाल सका, उस माँ की हड्डियों को अब गंगाजी में डालने से क्या फायदा? नहीं शेखर, मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो अपने माँ-बाप को जीवित अवस्था में तो भूखा मारता है और मरने पर उनका श्राद्ध कर पिंडादान करते हैं।”¹ यहाँ शंकर शेष ने उस मानव समाज की ओर अपने व्यंग्य बाण चलाया है जो अपने माता-पिता को जीवित रहने के अवसर पर अनाथ मंदिर और वृद्ध सदन में भेजकर उनकी मौत के बाद के आचार क्रियाओं को बहुत आडंबर के साथ करता है।

धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार आज समाज में सब कहीं दृष्टिगोचर है। इस अनैतिक व्यवहार द्वारा धर्म समाज के हरेक क्षेत्र में दबाव डाल दिया है। कला और साहित्य के क्षेत्र में धर्म ने किस प्रकार अपना दबाव डाल दिया है इसका दृष्टान्त सुरेन्द्रवर्मा के नाटक आठवाँ सर्ग में मिलता है। श्लील अश्लील की झूठी नैतिकता के द्वारा यहाँ कालिदास के कुमार संभव के आठवाँ सर्ग पर धर्म के ठेकेदारों ने रोक लगायी है और इसकी नैतिकता पर विचार करने के लिए एक न्याय समिति बनाई जाती है। इस निर्णय समिति में जो पाँच सदस्य नियुक्त किये जाते हैं, वे पाँचो साहित्येतर व्यक्ति हैं। यह बात बहुत व्यंग्य पूर्ण है तथा आज की हमारे सामाजिक परिवेश पर गहरी चोट है। कला

¹ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 91

निर्णय के लिए नियुक्त इस न्याय समिति के सदस्यों की योग्यता पर कालिदास द्वारा रचनाकार ने करार व्यंग्य किया है --- “वे वांग्मय के तो प्रकाण्ड पण्डित होंगे ही? काव्य शास्त्र का भी गहरा अध्ययन किया होगा? संस्कृत के पूरे साहित्यिक इतिहास के जानकार होंगे? --- उनका सौन्दर्य बोध बहुत परिष्कृत होगा? दृष्टि बड़ी सूक्ष्म होगे? --- वे भाव प्रवण होंगे? उदार विचारवेत्ता होंगे? विशाल हृदयहोंगे? ---- साहित्य-प्रेमी के जिस आदर्श रूप की कल्पना कि जा सकती है, वह जैसे उनमें साकार हो उठा होगा?”¹

आज हमारे समाज में ऐसे ही अव्यवहार चलते हैं की धर्म के ठेकेदार कलाकार को अपने दबाव में लगाने के लिए न्याय या कानून का साथ लेता है। लेकिन वे यह नहीं सोचते हैं कि कानून का न्याय और कला का न्याय दोनों बिलकुल अलग किस्मों का है। इस पर कालिदास का व्यंग्य ऐसा है -- - “वे ठहरे राज्य के न्याय-स्तंभ। आप ठहरे राज्य के धर्म स्तंभ! दोनों में तो ऐसा गठबंधन होना चाहिए।”² बाद में कृति में परिवर्तन लाने का समिति का निर्देश कालिदास स्वीकार नहीं करता है। वह कुमार संभव को अधूरा छोड़ देता है।

फिर कालिदास ‘अभिज्ञान शाकुन्तलम’ की रचना द्वारा जनमानस में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करता है। सर्वत्र कालिदास की इस रचना की चर्चा

¹ सुरेन्द्रवर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 45

² सुरेन्द्रवर्मा, आठवाँ सर्ग, पृ : 45

चलती है। जब साहित्यकार अपनी रचना के माध्यम से व्यापक स्तर पर संपूर्ण जन समूह की सहमती प्राप्त कर लेता है तब किसी भी सत्ता को उसके सामने झुकना ही पड़ता है। यहाँ कालिदास के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा ने धार्मिक सत्ता के प्रति कलाकार के विद्रोह भरी चेतना को प्रकट करने का सक्षम प्रयास किया है।

धर्म, जाति, वर्ण-भेद पर विद्रोह

बहुत सारे वैज्ञानिक प्रगति और नवीन प्रणालियों से गुज़रते हुए भी भारतीय समाज आज भी परंपरागत धर्म और इसके आधार पर बने गए जाति एवं वर्ण व्यवस्था से छुटकारा नहीं पाया है। आज भी हमारे समाज में सवर्ण वर्चस्व और उनके द्वारा अवर्णों का शोषण, जाति, वर्ण-भेद एवं सांप्रदायिकता चलते रहे हैं। ऐसे प्रदूषित वातावरण से समाज को मुक्त एवं जागृत करना हमारे कतिपय साहित्यकारों का आजीवन अभिलाषा बन गया है। इसलिए इन्होंने अपनी रचनाओं में तत्कालीन समाज का खुबहू चित्रण करके आदर्श पुरुषों द्वारा अपने ही विद्रोह को प्रकट करने का प्रयास किया। इस तरह सामाजिक जागरण को लक्ष्य बनाकर लिखे गए एक नाटक है भीष्म साहनी का 'कबीरा खड़ा बाज़ार में'।

मानव कल्याण के लिए उदित धर्म आज शोषण का हथियार बनकर रह गया है। ऐसे धार्मिक पतन पर चोट करते हुए भीष्म साहनी 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' में कबीर के माध्यम से कहते हैं --- "कोई ऐसा धर्माचार

नहीं जो इंसान को इंसान के साथ जोड़े सभी इंसान को इंसान से अलग करते है, एक को दूसरे के दुश्मन बनाते है।”¹ धर्म मनुष्य के बीच एकता नहीं भिन्नता पहुंचाती है। यह इंसान को इंसान के नज़रिए से नहीं, ब्राह्मण, तुर्क इत्यादि भिन्न-भिन्न नज़रिए से देखने में प्रेरक बनते है। कबीर ऐसे धर्म का खण्डन करता है --- “मैं इंसान का इंसान के नाते गले लगाने के लिए, मंदिर के सारे पूजा-पाठ और विधि अनुष्ठान छोड़ता हूँ और मस्जिद के रोजा-नमाज भी छोड़ता हूँ। मैं इंसान को इंसान के रूप में देखना चाहता हूँ।”²

कबीर के अनुसार जन्म से सभी इंसान होते है। वरना ब्राह्मण का बेटा माँ के पेट से ही तिलक लगाकर निकलता और तुर्क का बेटा खतनी करवाकर निकलता। लेकिन सवर्ण इसे स्वीकारते नहीं है। वह अपने को जन्म से ही सर्वोच्च समझते है। इनके इस अहं बोध पर कबीर अपना व्यंग्य चलाता है --- “तब तो आपकी धमनियों में अमृत बहता होगा, बहता है न? माँ के पेट से निकले होंगे तो माथे पर तिलक लगाकर निकले होंगे।”³

धर्म, जाति, वर्ण-विवेचन को हमारे समाज से हटाये बिना यहाँ शांति नहीं फैलेगी, जाति-धर्म वर्ण के बँटवारा मनुष्य को मनुष्य से अलग करते है।

¹ भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाज़ार में, पृ : 63

² भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाज़ार में, पृ : 81

³ भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाज़ार में, पृ : 61

धर्म के प्रति यह आशंका इकतारे की आँख, नाटक में कबीर द्वारा मणि मधुकर ने भी प्रकट की है --- “छोटी जात, बड़ी जात, पता नहीं, यह दीवार कब टूटेगी।”¹

धार्मिक पाखण्ड एवं पागलपन

सकारात्मक रूप में नियमित धर्म की हैसियत आज नकारात्मक प्रवृत्तियों से भरा हुआ है। मानव आज जिस शब्द का सर्वाधिक दुरुपयोग करता है वह है ‘धर्म’। धर्म के नाम पर अनाचार, पाखण्ड आदि के व्यापक प्रतिफलन ने सामाजिक व्यवस्था को विकृत बना दिया है। धर्म की वास्तविक शक्ति कर्म पर अधिष्ठित है। धर्म और अधर्म के बीच का अंतर कर्म के द्वारा निर्धारित किया जाता है। यदि ‘धर्म’ को कर्म के रूप में ढाला नहीं जा सकेगा तो वह पाखण्ड हो जाता है। समाज में कर्मकाण्डों में शकुन-अपशकुन जैसे अंधविश्वासों का प्रचालन अधिक देखा जा सकता है। ऐसे धार्मिक विघटन समाज को अतः पतन की ओर ले जा रहा है। इन धार्मिक कर्मकाण्डों के खिलाफ भी हमारे साहित्यकारों ने ज़ोर से आवाज़ उठाई है। ‘कबीर खड़ा बाज़ार में’ नाटक में भीष्म साहनी ने समाज के ऐसे धार्मिक पाखंडों पर कबीर के चरित्र के माध्यम से प्रहार किया है। धर्म के ठेकेदारों पर कबीर ने खूब व्यंग्य किया था। इनके बाह्य पाखंडों का विरोध करते हुए कबीर कहते हैं ---

¹ मणि मधुकर, इकतारे की आँख, पृ : 62

“माला फेरी, तिलक लगाया, लम्बी जटा बढाया है
अन्दर तेरे कुफर कहारों यो नहीं साहिब मिलता है।”¹

भीष्म साहनी ने हिन्दू धर्म के अन्दर फैले पाखंडों पर जगह-जगह अपना विद्रोह प्रकट किया है। धर्म के नाम पर आये हमारे भारतीय समाज में कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ, भ्रष्टाचार जैसे प्रवृत्तियाँ ही भरी हुई है, जो जन जीवन को उन्नति और प्रगति के पथ के विपरीत अज्ञान और अंधकार के गर्त में ढकेलेजा रहे है। यहाँ धर्म को आधार बनाकर साधू, सन्यासी, मुल्ला मौलवी आदि लोग धार्मिक ढोंग तथा आडंबर करके भोली भाली जनता को इसमें फँसाते है। वे आम जनता को धोखा देकर नाना प्रकार के प्रवचनों, झाड-फूंक, टोना-टोटका आदि के द्वारा ख्याति और अर्थ प्राप्ति कर लेते है। धर्म के नाम पर होने वाले ढोंग तथा बाह्य आडंबर के विरुद्ध मणि मधुकर ने नाटक इकतारे की आँख में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है।

“मुल्ला : आँखे खोलो और दुनिया पर एक निगाह डालो।

अन्धा एक : आहा, मुझे दिखलाई दे रहा है। मेरी नज़र लौट आई। मैं देख सकता हूँ, मैं सब कुछ देख सकता हूँ।

मुल्ला : अय नेक इंसानों, अपने सामने अभी तुमने एक मोजेज़ा देखा है। अय ईमान वालो, मस्जिदों की अराइज़ के लिए फैया जी से खैरात दो। अल्लाह तुम्हारी खेताह कुबूल करेगा। अभी दो अंधे ओर है। इन्हें भी आँखों

¹भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाज़ार में, पृ : 61

की रोशनी दी जाएगी। दूर-दूर से लोग अपना दुःख दर्द लेकर हमारे कदमों के हाज़िर होते हैं और हम उन्हें नाउम्मीद नहीं करते।

कबीर : सुनो, लोगों! मैं भी एक पहुँचा हुआ फ़कीर हूँ और अपना करिश्मा दिखलाना चाहता हूँ। मैं इन दिनों अन्धो को ठीक कर सकता हूँ।

मुल्ला : तू फ़कीर है? अय नेक इंसानों, इसकी बात का यकीन न करो। इसकी जुबान से शैतान बोल रहा है। हम इसे जानते हैं, यह कबीर जुलाहा है और इस्लाम को गालियाँ देता है।

कबीर : मुल्ला को यकीन नहीं है कि मैं भी कोई करिश्मा दिखला सकता हूँ? मैं अब सबूत पेश करूँगा। मैं कुछ करूँगा और उसे सुनते ही ये अन्धे, आँखे खोलकर अरबी घोड़ों की तरह दौड़ पड़ेंगे। (रैदास के कान में कुछ कहता है एकाएक दोनों चिल्लाते हैं) सांप, सांप, भागों भागों

[मुल्ला इस शोर से हडबडा जाता है। अंधे घबराकर आँखे खोल देते हैं और फिर तेजी से भाग जाते हैं। उनके पीछे मुल्ला भी]

कबीर : (हंसता हुआ) देखा तुमने, मैं ने कहा था न कि मेरे चन्द अलफ़ाज़ ही अन्धो को चंगा कर देंगे। काशी के लोगों, चारों तरफ यही ढोंग चल रहा है। मुल्ला अंधों को आँखे दे रहे हैं। असल में, उन्हीं के सिखाए पढाए लोग बीमार और अंधे बनते हैं और फिर चमत्कार की डोंडो पिटवाई जाती है।”¹

¹ मणि मधुकर, इकतारे की आँख, पृ : 44-45

धर्म के नाम पर हो रही प्रदर्शन भी कबीर पर विरोध उत्पन्न करता है। चींटी के पाँव की आवाज़ भी सातवें आसमान में बैठा ईश्वर सुन लेता है, इस सत्य को जानते हुए भी उसे पुकारने के लिए मस्जिद बाँधकर जोर से अज्ञान देने की क्या आवश्यकता है? इसके विरुद्ध भी कबीर के विद्रोही स्वर उमड़ते हैं

“काँकर पाथर जोट करि
मस्जिद लायी चुनाय
ता चढ मुल्ला बाग़ दे
क्या बहरों भयो खुदाय।”¹

इस तरह के अन्धविश्वास, अज्ञान अंध श्रद्धा और पाखण्ड को धर्म कहना न्याय संगत नहीं होगा। जो वास्तविक धर्म है वह अंधविश्वास, अंधश्रद्धा जैसे अनाचार के बिलकुल विपरीत है।

धार्मिक अंधविश्वास एवं छुआछूत के प्रति विद्रोह

आज सामाजिक जीवन में फैले धार्मिक अन्धविश्वास, छुआछूत जैसी रुढ़ियों ने समाज विरोधी तत्वों को बढ़ावा दिया है। देव-देवताओं तथा भूत प्रेत-पिशाचों की झूठी कथा बनाकर धर्म के ठेकेदार आम जनता को मानसिक पतन की ओर ले जाते हैं, जिससे उनके लक्ष्य और हित की पूर्ति

¹ मणि मधुकर, इकतारे की आँख, पृ : 63

संभव होती है। वे साधारण जन-जीवन का शोषण करके अपने अस्तित्व की नींव मज़बूत करने में जुट रहे हैं। इस तरह हमारे समाज में बहुत से पंडों पुरोहितों, साधू-संतों, योगी वैरागियों का एक बड़ा वर्ग अकर्मण्यता भोगी हो गया है।

आम जनता अपनी मनोकामना पूरी करने हेतु ईश्वर की उपासना, पूजा व्रत आदि साधू-संतों की सेवा मनोभाव से करते हैं। कुछ लोग तो अपनी बुरी मनोकामना से पूर्ण करने हेतु असंगत मार्गों को स्वीकार करते हैं। 'इकतारे की आँख' में दूसरा और तीसरा व्यक्ति अपनी मनोकामना पूर्ति के लिए हठयोग या फिर महा भैरवी का सहारा लेते हैं ---

“दूसरा : महाभैरवी ने कहा, तुम आज रात सपने में जिस जीव को देखा, उसे एक सप्ताह तक आहार दो, फिर चमत्कार होगा।

तीसरा : क्या चमत्कार?

दूसरा : कोतवाल अन्धा हो जाएगा। हाँ मैंने सपने में चींटियों को देखा। चींटियाँ ही चींटियाँ। समझ गए? इसीलिए चींटियों को दाना खिला रहा हूँ महाभैरवी का कथन असत्य नहीं हो सकता है। कोतवाल को अन्धा होना पड़ेगा।”¹

¹ मणि मधुकर, इकतारे की आँख, पृ : 17

इस प्रकार आम जनता कठोर भक्ति से उपजी अंधता से अन्धविश्वास पर गिर गया है। कबीर के अनुसार भक्त बनने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है।

आम जनता समाज में फैले अंधविश्वास पर तीव्र रूप से विश्वास दिखाता है। इसका स्पष्ट उदाहरण इस नाटक में है। जब मगहर में अकाल फैलता है तब लोग दाने-दाने को तरस रहे, कीड़े-मकोड़ों की मरते हुए भी इस झूठे अंधविश्वास से विचलित नहीं होता है कि काशी में मरेंगा तो मोक्ष प्राप्ति होगा, सीधे स्वर्ग जायेगे। वे मृत्यु को निश्चित मानकर रोज़ काशी चले आते हैं। यह अन्धविश्वास एक महामारी है। समाज में दिन-प्रतिदिन यह फैलता रहता है। इसे हारने एक मात्र मार्ग जनता को अज्ञान से मोचित करके जागृत करना ही है।

समाज में वर्ण-व्यवस्था के भ्रमित प्रचार से सवर्ण जात अपने को सर्वोच्च एवं ईश्वर सामान मानते हैं, और नीच जात को म्लेच्छ और उनके द्वारा छूना अत्यंत निकृष्ट समझते हैं। ऐसी छुआछूत का चित्रण भीष्म साहनी ने एक नाई द्वारा 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' किया है --- "कल दच्छिन का कोई जजमान आया। मैं उसके सर पर उस्तरा चला रहा था जब मुझे जम्हाई आ गयी और मेरे मुँह से निकल गया 'या अल्लाह'! वह तड़पकर उठ खड़ा हुआ और भागता हुआ, मुझे गालियाँ देता हुआ धोती समेट गंगाजी में कूद गया।"¹

¹ भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाज़ार में, पृ : 53

इस तरह की विकृत प्रवृत्ति संजीव के उपन्यास 'सूत्रधार' में भी देखने को मिलता है। इसमें भिखारी ठाकुर अपने पुश्तैनी धंधा जजमनिका में हाथ बटाने के लिए एकौना पहुँचते हैं तो उनके मन में यज्ञशाला देखने की इच्छा पनपती है। वहाँ पहुँचते भिखारी के गौर वर्ण और सुन्दर व्यक्तित्व देखकर पुरोहित उन्हें ब्राह्मण समझता है, यज्ञशाला को रंगीन अक्षत से चौक फरने का काम सौंप देता है। लेकिन दूसरा ब्राह्मण हजाम होने के नाते उन्हें यज्ञशाला से खारिज करते हैं और भिखारी के वजह से यज्ञशाला भ्रष्ट हो गयी का आरोप लगाते हैं और उससे कहते हैं कि --- "जावो बच्चा दूसरा काम देखो। एक बात सुन लो, जात मत छिपाना पाप लगेगा।"¹ फिर भिखारी के सामने ही गंगा जल छिड़ककर मन्त्र से यज्ञशाला को शुद्ध करता है। ये सब देखकर भिखारी का मन विद्रोह से भरता है और सोचता है "गंगाजल नाई या कहार ढोकर ले आये थे , लकड़ी लोहार फाड़ रहा था, दूध-दही अहीर के घर से आया होगा, कलश-परई कुम्हार दे गया होगा, दोना पत्तल नट और डॉम दे गए होंगे। आम के पल्लव एक मल्लाह का लड़का तोड़कर गिरा रहा था, यह उसने खुद देखा, अक्षत बनिया की दूकान से आया होगा, कपडे और दूसरी चीज़ों को भी ब्राह्मणों ने नहीं ही बनाया होगा। मगर ये सारे लोग अब इन्हें छू भी नहीं सकते।"²

¹ संजीव, सूत्रधार, पृ : 22

² संजीव, सूत्रधार, पृ : 22

यह हमारी सामाजिक व्यवस्था को कलंक बनाने की बात ही है। क्योंकि सारे के सारे काम नीच जात से ही करवाया जाता है अंतिम में फल खाने का अधिकार केवल उच्च वर्ग में ही है।

निष्कर्ष

धर्म मानव जीवन को नियमनाकूल चलाने वाला तत्व है। मनाव कल्याण के लिए उदित धार्मिक भावना में आज अकल्याणकारी, पाखण्ड शोषण आदि दुर्गुण ही देखने को मिलते हैं। भौतिक आवश्यकताओं से संतुष्ट होकर संघर्ष करनेवाले मानव समाज को मानसिक शांति प्रदान करने के लिए धर्म का उदय हुआ था। लेकिन आज इसी धर्म के नाम पर मनुष्य अत्यधिक मानसिक संघर्ष झेल रहे हैं। साहित्य और कला सामाजिक प्रतिबद्ध एवं मानववादी चेतना से अनुप्रमाणित होने के कारण इसकी संवेदनशील अभिव्यक्ति जन साधारण के अभाव ग्रस्त, विषमता पूर्ण जीवन से प्रभावित होता है, तो सहज ही इनके जीवन का संघर्षात्मक चेहरा उसमें उभर आता है। साथ ही साथ कलाकार के अपने अन्तर्क्षेप का भी प्रकाशन इसमें प्रकट होता है। धार्मिक चेतना से अभिशप्त और इनसे उत्पन्न विद्रोह की अभिव्यक्ति का वास्तविक परिदृश्य इन नाटकों और उपन्यासों में संप्रेषित किया है। इनमें पौराणिक कथाओं और पात्रों के माध्यम से आधुनिक जीवन की विविध समस्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास रचनाकारों ने किया है। इस प्रकार इन रचनाकारों ने अतीत और वर्तमान में

सार्थक सामंजस्य स्थापित करते हुए इतिहास के कल को वर्तमान के आज से जोड़ा है। वे भारतीय संस्कृति के पुरुषार्थ में उल्लेखित धर्म की वास्तविक भूमिका निभाने का प्रयास किये हैं।

चौथा अध्याय

कलाकार की सृजनशीलता और अर्थ



अर्थ

मानव आवश्यकताओं के बीच में जन्म लेता है। भोजन, वस्त्र और मकान उसके जीवन की बुनियादी ज़रूरतें हैं। आदिकाल में इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति उन्होंने अनोखे ढंग से की थी। वे कन्दमूल फल एवं जानवरों के मांस से भूख मिटाते थे। उन्होंने वस्त्र के लिए पेड़ों के पत्तों के छाल का इस्तेमाल और निवास के लिए वृक्षों का सहारा लिया था। प्रगति के अगले चरणों में सुविधाएं बढ़ीं। आज सभी आवश्यकताओं के केन्द्र बिंदु है अर्थ। आज अर्थ ही मानव जीवन का विधायक है। मानव समाज के निर्माण में अर्थ महत्वपूर्ण भूमिका रखती है। इसी तरह सामाजिक जीवन के विकास में भी इसका अडिग संबंध है। इस तरह आज जन जीवन के उत्थान के समग्र स्रोत अर्थ पर केंद्रित है। किसी भी व्यक्ति, समाज, देश के अस्तित्व एवं स्थिति का निर्माण इसकी आर्थिक स्थिति से आँका जाता है। किसी भी युग का सामाजिक एवं राजनैतिक घटनाक्रम तत्कालीन आर्थिक प्रतिक्रिया से ही प्रभावित रहता है। अतः कह सकता है कि अर्थ मानव समाज का महत्वपूर्ण साधन है और सामाजिक विकास की आधार शिला है। मार्क्स ने भी यह स्थापित किया है कि – मानवीय अस्तित्व और सामाजिक विकास की मुख्य प्रेरक शक्ति आर्थिक परिस्थितियाँ ही होती हैं।

आर्थिक परिवेश और कला

आर्थिक व्यवस्था, किसी भी राष्ट्र का मेरुदण्ड है। आर्थिक परिवेश के आधार पर ही उस राष्ट्र का सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विकास का गति निर्णय होता है। इसलिए कह सकते हैं कि – एक राज्य के संपूर्ण विकास का मूल आधार उस राज्य की आर्थिक व्यवस्था ही है। कला के क्षेत्र में भी यह तत्व भिन्न नहीं है। कला की उन्नति और अवन्नति भी आर्थिक परिवेश से जुड़ी रहती है। आज की अर्थ-व्यवस्था पूँजीपतियों के रिमोट कंट्रोल में है। समाज में इसका प्रभाव कैसा होना है यह उन्हीं के द्वारा निश्चित होता है। बाज़ारीकरण की तहत कला, साहित्य, संस्कृति सब की हैसियत माल में सीमित हो रही है। यहाँ सिर्फ बिकाऊ माल को प्रधानता मिल रही है। इस पूँजीवादी व्यवस्था में बाज़ार ने कला को माल में बदल दिया है। यहाँ व्यापक स्तर पर मुनाफा कमाने वाली कला कृतियों का अधिकतम उत्पादन हो रहा है। बाज़ार को लक्ष्य बनाकर यानी उपभोक्ता की इच्छा एवं उनके शौक के अनुसार कलाकृतियों का उत्पादन हो रहा है। लेकिन ईमानदार कला, शोषक वर्गों एवं शोषक तत्वों का सदैव विरोध करता है और इस वर्ग की प्रभुत्वशाली विचारधारा से ऊपर उठने में समर्थ होती है।

कलाकार की सृजनात्मकता और अर्थ

सृजनात्मकता कलाकार के लिए एक सुख दायी प्रवृत्ति है। यह कलाकार को सुख देने के साथ साथ समाज के लिए आनन्द, प्रेरणा तथा

अनुभूति प्रदान करते हैं। इसलिए रचना करना कलाकार के लिए एक सामाजिक दायित्व निभाना भी है। अक्सर कलाकार अपनी रोजी भी कला के कार्य द्वारा चलाता है। प्राचीन काल में धर्म-संघ, राजा-लोग, दरबार तथा रियासतें कलाकार को संरक्षण देता था और कलाकार अक्सर इनके हितों को यानी राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर कला का कार्य करता था और अपनी जीविका भी चलाता था। वर्तमान युग में धर्म तथा राजा-महाराजा का स्थान पूँजीवादी व्यवस्था ने हासिल किया है। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित समाज की पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में आज हर किसी सामाजिक जीवी की तरह कलाकार की स्थिति भी शोचनीय है। इस राक्षसी युग में स्वतंत्र होकर कला साधना करना कलाकार के लिए असंभव हो गया है। असंख्य व्यक्तियों को आश्रय, आनंद और नव स्पृति, रंगीन सपने और कल्याणकारी आदर्श प्रदान करने वाले कलाकार को यहाँ आर्थिक लाभ नहीं प्राप्त होता है।

बाज़ार केंद्रित अर्थ-व्यवस्था में कला सृजन का, एक फाक्टरी उत्पादन से ज़्यादा कुछ मूल्य भी नहीं है। यहाँ कला सिर्फ बाज़ारी माल है और कलाकार फाक्टरी में काम करने वाले मज़दूर समान। यहाँ कलाकार को अपनी आजीविका कमाने के लिए कला की परम्परागत मान्यताओं का खण्डन करना पड़ता है। जहाँ कलाकार को अपनी भावनाओं और विचारों से अवगत कराने का यथार्थ मौका मिलता है वहाँ कलाकार अर्थ के व्यामोह में भी फँस जाता है। व्यावसायिक दृष्टि से संचालित प्रकाशन संस्थाएं एवं

अकादमियों के कराल हस्त में पड़कर कलाकार भी एक व्यवसायी बन जाता है। यहाँ साहित्य सृजन उसकी रोज़ी-रोटी और आधुनिक सुविधाओं को प्राप्त करने का कार्य बनकर सीमित होता है। इतना ही नहीं यहाँ इस कला व्यवसाय समाज सेवा के हेतु से न किया जाकर सिर्फ अपने निजी लाभ के लिए किया जाता है, जिसका परिणाम होता है निजी लाभ की वेदी पर सामूहिक कल्याण की बलि। इस तरह कला को सामाजिक जीवन से पृथक करने से उसकी स्फूर्ति का हरण ही नहीं उसकी हत्या भी हो जाती है।

कला के प्रति स्वयं समर्पित, सामाजिक प्रतिबद्ध, कला साधना को सर्वोपरी समझने वाले कलाकार को इस युग में जीना मुश्किल बन गया है। इस समस्या से मुक्त होने के लिए वह आजीविका हेतु अन्य प्रवृत्ति में लीन होते हैं तो इस व्यस्त समाज में कला सृजन के लिए समय ढूँढना ही होगा। इसके संबंध में राजस्थानी साहित्यकार यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का संदेह अवसरोचित है – “नौकरी करने वाले लेखक साहित्य को पूरा समय कैसे दे सकते और ऐसे में ज्यादा लिख भी कैसे सकते हैं?”¹

पूँजीवादी समाज में कलाकार की अस्वतंत्रता से परिचित होकर लेनिन ने साहित्यकार और कलाकार को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता देने पर ज़ोर दिया है। उनके विचार में “हर कलाकार को यह अधिकार है कि – वह

¹ यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, मधुमती, अगस्त 2001, पृ : 47

बिना किसी पर्वाह किए स्वतंत्रता पूर्वक सृजन करे और अपने आदर्शों का पालन करे।”¹

सृजन कार्य में स्वतंत्र रहना, कलात्मक आदर्शों का पालन करना ये सब कला कार्य में आवश्यक ही है। लेकिन आजीविका के लिए क्या करेंगे? अर्थ के स्थान पर अर्थ ही चाहिए। सृजन में व्यवस्था विरोधी स्वर उभरने से यानी सामाजिक यथार्थ का प्रतिफलन होने से कभी भी व्यवस्था इसका आश्रय-प्रश्रय नहीं देता है। इस अवसर पर रचना कर्म द्वारा आजीविका कमाना कलाकार के लिए एक दुर्घटना ही है। “पुस्तकों से जो आय होती है उसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। रायल्टि का जो बखेड़ा है, उसे कोई लेखन जीवी साहित्यकार ही समझ सकता है। जो लेखक नौकरी-पेशा होते हैं, उन्हें तो पैसों की कोई चिन्ता नहीं होती। प्रकाशक भी उनसे प्रसन्न रहते हैं। पर मेरे जैसे लेखक के साथ आर्थिक परेशानियाँ जुड़ी रहती हैं। पुस्तकों से आय के रूप में मिलने वाली कोई निश्चित रकम नहीं है। प्रकाशक इस आशा में रहते हैं कि लेखक दिवंगत हो जाय। यह एक कटु सत्य कह रहा हूँ।”² नागार्जुन का यह कथन वर्तमान साहित्यकार कलाकार की आर्थिक दशा पर संकेत करता है।

¹ Every artist and everyone who considers himself such has the right to create freely, to follow his ideal regardless of everything, Lenin, On Literature and Art, p : 274

² नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ : 69

अक्सर कलाकार सृजन में स्वतंत्र रहने के लिए निजी आवश्यकताओं को सीमित करता है। कठिन यातना में ही अभिव्यक्ति में स्वतंत्र रहना, यही उन्हें इसकी ओर प्रेरित करने वाली शक्ति होती है – “मुझे मालूम है हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भाषा में केवल लिखने के आधार पर जीना कठिन प्रायः असंभव होता है। किन्तु मुझे पिछले दो या तीन वर्षों से, जब से मैं यूरोप से लौटा, कुछ ऐसी सुविधाएँ प्राप्त थी, जिसके सहारे कुछ वर्षों तक बिना नौकरी किए हुए अपना लिखना जारी रख सकता था। यह अवश्य है कि इसके लिए मुझे एक औसत और साधारण ज़िन्दगी बितानी पड़ती है, अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखना पड़ता है, लेकिन इसके एवज में अगर मैं स्वतंत्र रह सकूँ, बिना किसी नौकरी के बंधन में फँसे हुए वही काम कर सकूँ, जो करना चाहता है, तो यह मूल्य कुछ ज़्यादा नहीं है।”¹ यहाँ निर्मल वर्मा द्वारा किसी न किसी बाधाओं में न पड़कर स्वतंत्र रूप से अपने सृजन में लीन रहना पसन्द करने वाले कलाकारों का अंतरंग स्पष्ट होता है, जो इसके लिए किसी न किसी कष्ट सहने के लिए भी तैयार होते हैं।

सच्चे कलाकार ईमानदार रहता है। सामाजिक प्रतिबद्धता उनका आदर्श रहता है। कला और अनुभव, यथार्थ अभिव्यक्ति के बिना निष्प्राण है और इस अभिव्यक्ति ही कलाकार को इतर व्यक्ति अर्थात् समाज से जोड़ देती है। यही सामाजिक दायित्व की सृष्टि होती है। सच्चा कलाकार किसी सत्ता का

¹ निर्मल वर्मा, मेरे साक्षात्कार, पृ: 37

मुखापेक्षी भी नहीं होता। वह केवल अपनी आस्था के प्रति उत्तरदायी होता है। अनेक विषम परिस्थितियों में उसे सुविधाएँ खोकर कला की लाज रखनी पड़ती है। कला कोई 'प्रयोजन' सिद्ध नहीं करती। वह जो असम्प्रेक्षणीय है उसे शब्द देने का प्रयास करती है। इस तथ्य को मानने वाले कलाकार संरक्षण या प्रश्रय के अभाव में हार मानने के लिए कभी भी तैयार नहीं होता। तथा कला के सच्चे अर्थ को आदर्श बनाकर सामाजिक समस्याओं के प्रति लोगों को जागृत कराने का प्रयास करते हैं। समाज के प्रति संवेदनशील रहना यही अपना कर्तव्य समझते हैं। ऐसे कलाकार के संबंध में डॉ. रामदरश मिश्र ने कहा है कि – "सच्चा लेखक अत्यंत संवेदनशील होता है और वह निजी दर्द तो वहन करता ही है तमाम लोगों के दर्द के साथ हो लेता है। यानी रचना करने से पहले ही वह पीड़ा भरे कथ्य की यातना झेलने लगता है। दूसरों का दर्द उसका अपना दर्द बन कर उसे मथने लगता है। तब तक मथता है जब तक वह उसे रचनात्मक अभिव्यक्ति नहीं दे लेता। वह सर्जक है न, अतः हर दर्द को रचता है और रचने की प्रक्रिया की अपनी यातना होती है।"¹

आर्थिक संकट और सृजन संघर्ष : आधुनिक हिन्दी नाटक और उपन्यास में :-

कलाकार एक सामाजिक प्राणी है। समाज की सारी की सारी गतिविधियाँ उसपर प्रभाव डालती है। आर्थिक संकट से त्रस्त सामाजिक

¹डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ, रचना धर्मिता और मूल्य बोध, पृ : 45

परिस्थिति में आत्म निर्भर होकर कला कार्य करना उनके लिए एक विकल्प ही है। आर्थिक संकट से उत्पन्न सृजनात्मक संघर्ष और अभिव्यक्ति का हनन हर काल में कलाकार की अपनी समस्या है। आर्थिक विषमता की कठिन परिस्थिति में उत्पन्न अंदरूनी, पारिवारिक एवं सामाजिक संघर्ष उनके स्वतंत्र सृजन में बाधाएं पहुँचाता है। इसका विस्तृत चित्रण आधुनिक हिन्दी नाटककारों और उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में करने का प्रयास किया है। अक्सर यह प्रश्न उनका अपना ही होता है अथवा उनकी समकालीन परिस्थिति के। “अपने समय और काल को लाँघकर कोई नहीं जिया, भले ही वह कोई कलाकार हो या बढई, डाक्टर। इस दृष्टि से एक लेखक भी वैसा ही सामान्य जीव है, जैसा कोई अन्य जीव – इसी दृष्टि से कलाकार अपनी कला को आँकता है, अपनी कला के दर्पण, अपने काल के जीव, उसकी विषमताओं, उसके विरोधाभासों को ही उतारता है।”¹

आर्थिक संकट से उत्पन्न अंदरूनी संघर्ष

आज सृजन का पर्याय है, चुनौतियों अथवा खतरों में सृजनरत रहना। चुनौतियों से उत्पन्न आन्तरिक संघर्ष में स्वतंत्र सृजन वास्तव में खतरे में है। समाज की आर्थिक सत्ता की क्रूर, निर्मम उपेक्षित दृष्टि कलाकार के मन का अमृत-सत् सोख लेती है। जीवन की कटु वास्तविकताएँ कलाकार के मन की सौन्दर्य भावना के आगे पलक पांवड़े नहीं बिछा सकती। अक्सर भौतिक

¹ भीष्म साहनी, सारिका अगस्त 1965, पृ : 10

आवश्यकताएँ पूरे हुए बिना भगवत्-भजन भी असंभव होता है। देवेन्द्र सत्यार्थी के 'कठपुतली' नामक उपन्यास में कलाकार सुनिल का कथन इस तथ्य को स्थापित करता है – “जब इस सोसाइटी में ड्रामा लिखकर पेट न भरे तो कलाकार को कोई दूसरा काम करना ही होगा, क्योंकि पेट तो कलाकार के साथ भी लगा हुआ है।”¹

भीष्म साहनी ने अपने नाटक 'हानूश' में एक कलाकार की उस आर्थिक पृष्ठभूमि को उभारा है, जिसमें उसकी कला प्रभावित होती है। लगातार सत्रह साल के कठिन परिश्रम के बाद चेकोस्लावाकिया की पहली घड़ी बनाने में यदि हानूश कामयाब हुआ तो इसके बीच उन्हें असहनीय आर्थिक विषमता का सामना भी करना पड़ा था। लेकिन इस संघर्ष के बीच इतनी बड़ी सफलता प्राप्त करते हुए भी उस कलाकार को क्या मिला? बादशाह ने उसकी आँखें निकलवा दी कि वह इस तरह दूसरी घड़ी न बना लिया जाय। यही हमारे समकालीन समाज का अभिशाप है। चाहे कितना भी बड़ा कलाकार हो या अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति, उसके पास धन-संपत्ति नहीं है तो अपने मनपसंद काम करने में हमेशा विघ्न आते रहते हैं। जो उनके मन में आंतरिक संघर्ष पैदा करता है। घड़ी बनाने में लगे रहे हानूश को आजीविका एक बाधा बन जाती है। कठिन आर्थिक संकट से वह बार-बार घड़ी बनाने का काम छोड़ देने का निश्चय लेते हैं। लेकिन उनकी

¹ देवेन्द्र सत्यार्थी, कठपुतली, पृ: 97

अदम्य सृजनेच्छा सृजन करने में उन्हें प्रेरित ही करती है। आर्थिक संकट और सृजन संघर्ष के बीच की टकराहट से हानूश का मन आहू हो जाता। कठिन परिस्थिति में भी सृजन कार्य छोड़ना उनके लिए असंभव होता है। यह लोहार के शब्दों में “यह फिकरा भी मैं सौ बार सुन चुका हूँ। सुन हानूश, तू यह काम नहीं छोड़ सकता। यह झिक-झिक भी सदा चलती रहेंगी। सोमवार को कहोगे घड़ी बनाना छोड़ दिया, मंगल को भागे मेरे पास आओगे। कमानी में कितना लोहा, कितना पीतल लगेगा।”¹ इससे हानूश की आंतरिक छटपटाहट स्पष्ट महसूस होती है। कलाकार के सृजन के बीच बाधा बनने वाले कई कारण होते हैं। लेकिन एक सच्चा कलाकार इन संघर्षों से गुज़रकर कला कार्य में सफलता प्राप्त करता है। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि – जितनी सारी परेशानियों के होते हुए भी कलाकार अपने लक्ष्य में कामयाब है जबकि उसमें कला के प्रति कभी न दबने वाली इच्छा होती है।

शंकर शेष का नाटक ‘मूर्तिकार’ का नायक शेखर भी एक ऐसा कलाकार है जो कला को सर्वोपरी समझता है। उसके जीवन में बाकी सब, कला की तुलना में निम्नतम है। यह शेखर के शब्दों में स्पष्ट है – “कला ही मेरी आवश्यकता है और कला ही मेरा जीवन है पारो।”²

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ : 44

² शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 61

लेकिन कला और कला की सच्ची साधना जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती। अतः जीवन यथार्थ और कला साधना के बीच कलाकार की स्थिति शोचनीय है।

आर्थिक संकट से उपजे पारिवारिक संघर्ष

कलाकार समाज के सबसे संवेदनशील प्राणी है। सामान्य जीवन, जीवन क्रम सब इनके भावना गत जीवन के बहुत विदूर है। यही कारण रचनाकार के व्यक्तित्व और उसके परिवेशगत जीवन में विरोधाभास रखता है। वहाँ किसी भी बंधन उनके लिए बाधा ही है। क्योंकि ये बंधन उसे सीमित जीवन जीने के लिए बाध्य करता है। परिवार और पारिवारिक जीवन सब उनके कलात्मक जीवन से भिन्न है। अक्सर कलाकार पारिवारिक जीवन और अपने रचनात्मक जीवन को एक साथ ले जाने में असमर्थ रहता है। क्योंकि परिवार उन्हें भौतिक आवश्यकताओं में बाँधते है। इन भौतिक आवश्यकताओं को ओढ़ने-पहनने के लिए अर्थ अनिवार्य है। पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ और आर्थिक तंगी कला सृजन की राह में बाधाएं पैदा करती है। अक्सर वह इन ज़िम्मेदारियों से मुक्त कला जगत में जीना पसंद करता है। वहाँ पारिवारिक विघटन जन्म लेता है। नरेंद्र मोहन का नाटक 'अभंग गाथा' में तुकाराम की जीवन परिस्थिति कुछ ऐसी ही है। तुकाराम की पत्नी जिजाई अपने घर की अभाव ग्रस्तता और आर्थिक तंगी से बिलकुल परेशान है। इसीलिए ही वह अपने पति की कला-साधना का

शिकायत करती है। - उनके अनुसार अपने पति हवा में उड़ते हैं और घर हवा में नहीं होता। घर का ठीक ढंग से संभालने के लिए अर्थ अनिवार्य है। “अभंग में आसमान है और अन्न में धरती और घर धरती पर है, जिसे तेरे बापू भूल गए हैं।”¹ एक माँ कभी भी अपने बच्चों को भूख से बिलखते हुए नहीं देखना चाहती है। कला साधना में डूबे तुकाराम अक्सर ‘घर में होकर भी घर में नहीं’², ऐसी अवस्था में है। इसलिए अनजाने जिजाई के मुँह से ये शब्द निकलते हैं – “भूख से बिलखते बच्चे जब मुझे नोच-नोचकर खाते हैं तो दिल में आता है इनके गले घोंट दूँ।”³

जिजाई की यह मानसिकता सिर्फ उनकी ही नहीं, संसार की ज्यादातर कलाकार-पत्नीयों की है। परिवार के प्रति कलाकार की दायित्वहीनता से उत्पन्न पारिवारिक विषमता सबसे ज्यादा उसे ही झेलनी पड़ती है।

अर्थ, समाज की तरह पारिवारिक जीवन को भी व्यवस्थित-अव्यवस्थित करने का मूलतंत्र है। इस अवसर पर अर्थ विभीषिका से त्रस्त कलाकार का मन आन्तरिक संघर्षों से जूझता टकराता रहता है। शंकर शेष के ‘मूर्तिकार’ नाटक का प्रारंभिक भाग इस तथ्य का ठोस प्रमाण है। इसमें

¹ नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 51

² नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 51

³ नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 51

मूर्तिकार शेखर एक मूर्ति बनाने के काम में लगे हुए है। इस वक्त शेखर बिलकुल एकांत रहना चाहता है। उनकी राय में जब तक कलाकार की आत्मा अपनी कलाकृति से बातचीत नहीं करती तब तक कृति भी सौन्दर्य की भाषा नहीं बोलती। इसलिए बीच बीच में पत्नी ललिता का आना और बातचीत करना वह पसन्द नहीं करता। “इस समय न छेड़ों। इस क्षण को न छेड़ो, नहीं तो इस मूर्ति का सौन्दर्य मुझसे रूठ जाएगा। बात बन्द।”¹

घर के प्रति पति और पत्नी का समान दायित्व होता है। जब पति यह सारे दायित्व भूलकर चौबीस घंटे कला-सृजन में ही डूबा रहता है तो उस पति के प्रति पत्नी के मन में शिकायत होना स्वाभाविक है। शेखर कम से कम यह भी न जानने की कोशिश नहीं करता कि – घर की हालत क्या है? और घर का चूल्हा जलता है या नहीं? माँ और गृह स्वामिनी होने के नाते ललिता को अन्न की चिंता ही आती है। इसलिए ललिता यों बरस पड़ती है – “क्या करूँ मैं तो चाहती हूँ जबान बंद रखूँ, पर कहे बिना काम भी नहीं चलता। तुम जिस मिट्टी की मूर्तियाँ बनाते हो, उसमें बने हुए चूल्हे को कभी देखा है? मैं तो कह रही थी – घर में आटा बिलकुल नहीं है।”² दरअसल ललिता अपने पति से लड़ना नहीं चाहती है। उसे यह याद दिलाना चाहती है कि – वह केवल चित्रकार या मूर्तिकार ही नहीं है, एक गृहस्थ भी है,

¹ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 60

² शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 61

अपने पत्नी-बच्चे, जवान अविवाहित बहन और रोज़-रोज़ की ज़रूरतें भी साथ है। लेकिन कला के पूजारी शेखर की प्रतिक्रिया यों है – “ सबकी ज़रूरतें है तो मैं क्या करूँ? मेरी तो बस एक ही आवश्यकता है। मैं रेखा-रेखा में सौन्दर्य का अलौकिक संगीत भर देना चाहता हूँ। कला ही मेरी आवश्यकता है।”¹

अपने पती का, परिवार के प्रति दायित्वहीनता ललिता को ज़्यादा खलती है। उनकी राय में अर्थ के स्थान पर अर्थ ही चाहिए। वहाँ कला, सौन्दर्य वगैरह का कोई प्रयोजन नहीं है। यही जीवन यथार्थ है। “पर अभी घर मालिक का मुंशी पिछले महीने का बकाया किराया वसूल करने आएगा, तो क्या उसे कला पर एक व्याख्यान सुनाओंगे। वह तो उस समय सामान उठाकर सड़क पर फेंक देगा – तुम्हारे चित्रों का रंग नालियों में बहा देगा – उस समय क्या करोगे? उस समय क्या पागल खाने में बैठकर चित्र बनाओंगे?”²

आर्थिक स्थिति मनुष्य के लिए उतनी महत्व तो होती है, जिसके सशक्त होने से ही मनुष्य अपना मन पसन्द कार्य कर सकता है, अन्यथा नहीं। धन के कारण मनुष्य भोग से ही नहीं त्याग से भी वंचित रह जाता

¹शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 61

² शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 71

है। समाज में आदर्शों के बजाय पैसे को ही ज़्यादा सम्मान मिल रहा है। बिना पैसे के मनुष्य टूट जाता है। अर्थ प्रधान समाज में मनुष्य पैसे के बल पर ही ज़िन्दा है। पैसे के कारण मानव जीवन में हुई मूल्यच्युति आज इस समाज की एक घृणित समस्या बन गयी है।

आर्थिक अभाव के कारण पारिवारिक संकट झेलने वाले और एक कलाकार है भीष्म साहनी का हानूश नाटक का नायक कलाकार हानूश। घड़ी बनाने में लगे हुए हानूश भी परिवार के लिए दो जून की रोटी कमाने में असमर्थ रहता है। उनकी यह असमर्थता परिवार को इस स्थिति तक ले जाती है जो उनकी पत्नी कात्या के शब्दों में – “घर में खाने को न हो तो मैं अपनी बच्ची को कैसे पालूँ? मुझे सभी उपदेश देते रहते हैं। मेरा बेटा सर्दी में ठिठुरकर मर गया। जाड़े के दिनों में सारा वक्त खाँसता रहता था। घर में इतना ईंधन भी नहीं था कि – मैं कमरा गर्म रख सकूँ। हमसायों से लकड़ी की खपचियाँ माँग कर आग जलाती रही। पर कौन माँ अपने बच्चों को अपनी आँखों के सामने ठिठुरता देख सकती है।”¹

नरेन्द्र मोहन का नाटक ‘कहै कबीर सुनो भाई साधो’ का नायक कबीर की अवस्था भी इससे कुछ भिन्न नहीं है। जो कला के प्रति स्वयं समर्पित कलाकार है। उन्हीं के शब्दों में – “इन कवित्तों में मेरी जान बसती है,

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ: 31

लोई। जिस दिन कवित्त रुक गये, मेरी जान निकल जायेगी।”¹ कबीर का परिवार भी आर्थिक विषमता से भूखे मारे हैं। यहाँ उनकी पत्नी लोई अपने बच्चों को भूखे पेट सूखते हुए देखना नहीं चाहती। वह अपने बच्चों के लिए पति से महँगे कपडे या आलिशान मकान नहीं माँगती। लेकिन कम से कम दो जून रोटी का प्रबंध करने का अनुरोध करती है। इसलिए वह अपने पति से कवित्त गाकर घूमते-फिरते रहने के अलावा कोई दूसरा पेशा ढूँढने की विनती करती है – “तुम्हे कवित्तों की पड़ी है। बताओ, मैं इन बच्चों का क्या करूँ। क्या दूँ इन्हें खाने को? इनका गला घोंट दूँ क्या? धंधा करते, खड्डी में मन लगाते तुम्हारी जान निकलती है। बोलो कहाँ से खिलाऊँ इन्हें?”² उनकी शिकायत और दबाव से कबीर कवित्त के साथ दूसरे काम करने का निश्चय कर लेता है – “ठीक कहते हो, लोई! क्या करूँ? एक धुन है, जो लगातार मेरा पीछा करती रहती है और मुझे कुछ सूझता नहीं। चलो, कल से खड्डी पर काम शुरू करता हूँ। --- धीरज रखो लोई। कल से करघा और कवित्त साथ-साथ चलेंगे।”³

अर्थ के अभाव में अपने परिवार को विपदा में देखकर कलाकार अधिक समय विमुख न रह सकता है। तब वह इस संसार के मायाजाल में

¹ नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधो, पृ : 50

² नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधो, पृ : 50

³ नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधो, पृ : 50

कैद होकर वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य किसी नौकरी करने में लगते हैं। लेकिन सृजन के समय सब कुछ भूलकर हयात् का सा आनन्द अनुभव करते हैं। ऐसे कलाकार का सशक्त मिसाल है, सुरेन्द्र वर्मा का नाटक “कैद-ए-हयात्” का नायक मिर्जा गालिब। मिर्जा गालिब जब लिखते हैं तो वे अपने लेखन में हयात् का सा आनन्द पाते हैं। किंतु लेखन के बाद यथार्थ के धरातल पर आते हैं और लेखन क्रिया का नशा उतरता है तो उन्हें आवश्यकताओं की पथरीली ठोकड़ों से लहू-लुहान विरायत से प्राप्त संपत्ति के विवादों से जूझना पड़ता है।

मिर्जा गालिब आदर्श कलाकार का प्रतीक है। लेकिन आर्थिक अभावों से उत्पन्न पारिवारिक संघर्ष से संतुष्ट भी है। जो सिर से पैर तक कर्ज में डूबकर भी शायरी करते हैं। इससे उनकी बीवी उमराव भी परेशान है। उमराव के शब्दों में – देखा आपा? हज्जाम, धोबी, मिशती खाकरोव किसी को चार माह से उजरत नहीं मिली। मालिके मकान को किराया नहीं चुकाया गया। महाजन आशिके बेताब की मानिन्द दहलीज़ पै सिज दे किये जा रहे हैं।”¹

अक्सर कलाकार को पारिवारिक जीवन बाधा ही है। वैवाहिक जीवन उन्हें भौतिक आवश्यकताओं की ओर खींचता है। कला-साधना इससे संकीर्ण होता है। हानूश की पत्नी, आर्थिक अभावों के कारण दुखित होते हुए

¹ सुरेन्द्र वर्मा, कैद-ए-हयात्, पृ : 14

भी कलाकार की कला-साधना की समझदारी करती है। उन्हीं की राय में ब्याह करना कलाकार के लिए एक भूल है। - “सुनो, हानूश मैं जानती हूँ तुम यह काम नहीं छोड़ेंगे। मैं घर की दो जून रोटी का तो इंतज़ाम करूँ। तुम मुझे कब समझेगे हानूश। मेरा बस चले तो मैं घर की सारी देखभाल अपने सिर पर ले लूँ। यह थोडा-सा, ताले बनाने का काम भी जो तुम पर बोझ है, तुम पर से हटा लू जो मन में आए करो। मुझ से पूछो तो तुम्हारा ब्याह करना ही भूल थी। ब्याह करके न तुमने सुख पाया न मैं ने।”¹ कात्या, हानूश के घड़ी बनाने के लगाव अच्छी तरह जानती है। जान बूझकर उनकी तकलीफ करना वह नहीं चाहती है। शंकर शेष का मूर्तिकार नाटक की ललिता भी इसी तरह आर्थिक संकट की असहनीय अवस्था में ही शेखर को परेशान करती है। इस तरह देखे तो पत्नी के कितनी समझदार होने पर भी आजीविका के लिए उसे अर्थ ही चाहिए। तब कलाकार के लिए स्वतंत्र सृजन एक विकल्प बन जाता है। और वह ऐसे काम करने के लिए मज़बूर हो जाता है जिसमें उसका कोई शौक या दिलचस्पी नहीं। अतः कहा जा सकता है कि – वैवाहिक जीवन कलाकार के लिए बाधा ही है। इस तथ्य का समर्थन देवेन्द्र सत्यार्थी का उपन्यास ‘कठपुतली’ में बंगाली चित्रकार ‘विमल’ द्वारा होता है – “यह काम तो आत्म हत्या करना जैसा है। आर्टिस्ट शादी करना नहीं माँगता, आर्टिस्ट पैर में बेड़ी नहीं माँगता, हाथ में

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ : 54

हथकड़ी नहीं माँगता।”¹ विमल की राय में ‘शादी’ एक कलाकार के लिए बेड़ी है। यह उनकी स्वतंत्र कला यात्रा में तटस्थता पहुंचाती है। तब कलाकार को इससे मुक्त होना चाहेगा। विमल इस कार्य को मानता नहीं है। “हम यशोधरा को शयन कक्ष में छोड़कर गृह त्याग करने का पक्ष नाई मानने सकता।”² उनकी राय में कलाकार का कुछ उत्तरदायित्व होता है – “माँ तुम्हारा बेटा तो कलाकार है, कला-साधना उसका उत्तरदायित्व। कोनों सुन्दरी उर्वशी के संग पाणीग्रहण करने का उत्तरदायित्व कलाकार नहीं उठाने सकता।”³

कला एक तपस्या है। इस तपस्या में भौतिक आसक्ति एक बाधा है। इसलिए कलाकार को महर्षियों की तरह भौतिक बंधनों से मुक्त होकर कला साधना में लीन होना एक हद् तक समीचीन होगा। शायद इस तथ्य को सूचित करना स्वयं लेखक कलाकार का भी उद्देश्य होगा।

घर, परिवार का बंधन ज्यादातर कलाकारों को बंधन ही है। इस संदर्भ में आर्थिक विभीषिका भी झेलने पड़े तो इस बंधन से उत्पन्न असहिष्णुता दिगुनी बन जाती है। जब वह इससे मुक्त होने के लिए बाहर निकलता है तो वहाँ भी उन्हें संघर्ष करना पड़ता है। यहाँ मिर्जा गालिब के

¹ देवेन्द्र सत्यार्थी, कठपुतली, पृ : 35

² देवेन्द्र सत्यार्थी, कठपुतली, पृ : 49

³ देवेन्द्र सत्यार्थी, कठपुतली, पृ : 49

संदर्भ में देखा तो, दाम्पत्य जीवन से बिलकुल तंग होकर उसका दुविधा ग्रस्त मन चारों और यों भटक रहा है – ‘यह शादी का नहीं दर्द का रिश्ता है। जब इसके ताने-बाने जुड़े, तब मेरा सब-कुछ टूट चुका था। अपना घर और अपनी बयाज़ और लोगों का जौके सुखन – हर शौ से मेरा यकीन उठ चूका था। ऐसा महसूस होता था, जैसे मैं ने कोई खोल ओढ़ रक्खा है या मेरे इर्द-गिर्द एक बाहरी खाई है, जिससे मैं लोगों के नजदीक नहीं जा सकता। --- गलती कहाँ थी? क्या वाकई ज़िन्दगी की नब्ज पर से मेरी उँगली हट गई थी? या मेरा रास्ता अपनी जगह सही था, लेकिन चूँकि राहेआम से मुखतलीफ़ था, इसलिए उसकी मुखालिफत लाज़िमी थी? --- इसी कशमकश में ज़ख्मी खुदारी लिए जब मैं इस घर में दाखिल होता, तो आस्ताने पर कदम रखते ही रूबरू तुम्हें पाता – गोया शिकायतों और तोहमतों का एक मुजरिसम आइना ---- इस कचोट से लरजकर जो मैं बाहर निकलता, तो फिर खोल और खाई, फिर वही दूरी का एहसास। --- घर के बाहर मैं अजूबा था, घर के अंदर अजनबी --- मुझे कही चैन नहीं था। हर तरफ घुटन, हर सिम्त अँधेरा।”¹

अर्थ-पराजित कलाकार को घर में हो या बाहर समाज में स्वतंत्र सृजन-जीवन एक मरीचिका ही रहेगा – यही ग़ालिब के शब्दों में व्यक्त होता है।

¹ सुरेन्द्र वर्मा, कैद-ए-हयात, पृ : 70-71

आर्थिक संकट से उत्पन्न सामाजिक संघर्ष

सृजन, स्वतंत्रता का पर्याय है। सृजन की बाधाएँ बिलकुल अभिव्यक्ति स्वतंत्रता की बाधाएँ ही होती हैं। आधुनिक समाज की पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में अर्थहीन कलाकार और उनकी कला, सतत् शोषण का शिकार हो रहे हैं। इस शोषणकारी नीति व्यवस्था में प्रायः भौतिकवादी मूल्यों की ही स्वीकृति होती है। स्नेह, उदारता, निश्छलता आदि उदात्त वृत्तियों के लिए उसमें स्थान कभी भी नहीं होता है। यहाँ जीवन के सभी सूत्र अर्थ के अश्व पर सवार अंधी दौड़ लगा रहे हैं। ऐसी व्यवस्था में छल-कपट, स्वार्थ, धोखेबाजी, दुराव-छिपाव एवं भोग की उद्धोषणा होती है। तब सामाजिक हित के लिए व्रत करने वाले कलाकार की स्थिति क्या होगी? यह पूछना ही नहीं।

समकालीन अर्थ व्यवस्था के कराल हस्त में पड़कर सृजनात्मक संघर्ष की दयनीय स्थिति झेलने वाले कलाकारों के प्रतीक के रूप में शंकर शेष ने अपने नाटक 'मूर्तिकार' के नायक 'शेखर' को प्रस्तुत किया है। जो कलाकार के नाते समाजसेवी और कला में आदर्शवादी रहना अपना दायित्व समझता है। उनकी राय में – “कलाकार का काम केवल दिये के तेल की तरह जलते जाना है। उसे कला का मोहक प्रकाश फैलाना है। अनादी, लोगों को प्रकाश से मतलब है। जलते हुए तेल को देखने की फुरसत किसे है?”¹

¹ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 63

जलते तेल के समान कलाकार की हैसियत को जानने में हमारा समाज बहुत पीछे है। असल में कला-साधना द्वारा समाज सेवा करने वाले कलाकार वर्ग के जीवन को आश्रय एवं प्रश्रय देना समाज का ही कर्तव्य है। लेकिन समाज, इस कलाकार के महत्व को आँकने में असफल निकलता है। इसलिए जीवित रहते उसकी आन्तरिक संवेदना का कोई महत्व नहीं देता है। जीवित रहते उनके परिवारों पर छाए अस्तित्व संकट को दूर करने का कोई भी प्रयत्न नहीं करता है। आज समाज की यही प्रवृत्ति रही है कि – मरणोपरांत ही कलाकारों की अर्चा की जाती है। उनके नाम पर जन्म शताब्दियाँ मनाई जाती है, श्रद्धांजली देने हेतु सभाएँ की जाती है, उनके नाम पर भव्य स्मारक एवं साहित्यिकयोजनाओं को भी क्रियान्वित किया जाता है। समाज की इस दूषित वृत्ति पर 'मूर्तिकार' नाटक का साहित्यिक कलाकार अनादी का कथन है – “तुम जिस तरह सोचते है, उतना समाज न तो भावुक है न उदार। मुझे आज भूखा मारकर कल मेरी पूजा भी की जाए तो उसमें अर्थ क्या है? यह भारत वर्ष है मेरे दोस्तों! यहाँ लोग साहित्यकार को पहले भूखा मारते है, बाद में उसका पुतला बनवाने के लिए हजारों रूपये चन्दा इकट्ठा करते है।”¹ लेकिन शेखर जो है कला साधना द्वारा स्वयं समाज के लिए समर्पित कलाकार है। वह अनादी का यह मत स्वीकार नहीं करता है। पर जब प्रदर्शनी के लिए भेजे उसकी कला साधना

¹ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 63

के तिरस्कार की खबर सुनकर वह भावविभोर हो उठता है। उसे अफ़सोस इस बात में है की उसका एक भी चित्र इस लायक नहीं समझा गया कि – उसे प्रदर्शनी में लगाए जाए। उसकी अंदरूनी व्यथा यों फूट निकली है – “मैं नहीं सोचता था कि – मेरी साधना का, मेरी तपस्या का इतना भयंकर मज़ाक उड़ाया जाएगा। मैं समझता था, मैं दुनिया के सामने कला का नया स्वरूप रख रहा हूँ। मैं सोचता था आदमी की भावना को मैं रेखाओं में अमर बना रहा हूँ। --- पर मेरे चित्र कूड़ा-करकट समझकर फेंक दिए गए।”¹ इस समय अपने पती को तसल्ली देते हुए ललिता ने सही बात कही – “लोगों को हमेशा घिसी-पिटी लकीर पर चलने की आदत है --- इनाम नहीं मिला, इसका मतलब यह तो नहीं कि – तुम्हारी कला हलके दर्जे की है। किसी चीज़ को इनाम मिल जाना ही उसकी महानता का सबसे बड़ा सबूत तो नहीं है।”² ललिता का पूरा भरोसा है कि आज नहीं तो कल अपने पति का नयापन लोगों की निगाह में ज़रूर उतरेगा।

आज बाहर की दुनिया जैसी कला की दुनिया में भी मूर्खों का आधिपत्य चल रहा है। इसलिए समाज के अन्य क्षेत्रों की तरह कला क्षेत्र में भी गन्दगी फैल गयी है। यहाँ कलाकार की मौलिकता, नयापन आदि को

¹ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 96

² शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 96

सम्मान देने में सदा तटस्थता होती है। आज के कला प्रदर्शिनियों और अकादमियों के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन यहाँ समीचीन सिद्ध होता है कि – “अकादमियों का स्वरूप तथा गठन इस प्रकार का हो गया है, खास कर स्वार्थ परता के कारण कि कितने ही कलाकार प्रदर्शन के अधिकार से वंचित कर दिये जाते हैं। अकादमी की समितियों में जो गुप हावी होता है वह मात्र अपने चट्टे-बट्टों को ही आश्रय देना चाहता है और दूसरों को बराबर नज़र-अंदाज़ करते रहना चाहता है। कला के स्वरूप के बारे में भी उसकी अपनी मान्यता तथा परिधि होती है जो इस परिधि के बाहर के कलाकार है, इनसे मेल नहीं खाते, उन्हें बहिष्कृत कर दिया जाता है।”¹

बाज़ारीकरण के दुष्प्रभाव से मलिन हो रहे समकालीन समाज में संस्कृति के संरक्षक ठहरने वाले कलाकारों और उनकी कला की मूल्य च्युति हुई है। यहाँ सब चीज़ों की कीमत बाज़ारू नजरिए से आंक कर निश्चित होती है। यहाँ कला की हैसियत भी इससे कुछ भिन्न नहीं है। यहाँ किस कला साधना की अधिक बिक्री होती है, इसका मोल बढ़ता है। कला की महानता, असलियत इन पर विचार करने के लिए यहाँ कोई तैयार नहीं होता है। साहित्यिक कृतियों को पाठकों तक पहुँचाने वाले तत्कालीन प्रकाशक वर्ग भी उत्पादन की नज़रिए से कला का मूल्यांकन करते हैं। बाज़ार में बहुत खूब बेचने के लिए वे रचना की भीतरी शोभा पर अधिक बल देता है। यहाँ

¹ राम चन्द्र शुक्ल, कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, पृ : 65

आर्थिक संकट के जंजीरों में पड़कर कलाकार वर्ग कभी-कभी इनके जाल में फँस जाता है। ऐसे एक संदर्भ को वरिष्ठ कलाकार देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने उपन्यास 'कठपुतली' में सुनिल के जीवन यथार्थ के द्वारा विश्लेषित करने का प्रयास किया है। सुनिल ने होटल में प्लेटें साफ़ करने के साथ अपनी आजीविका कमाने की यात्रा शुरू की थी, फिर लाँरी क्लीनर और बैरे का काम, फिर फिल्म कम्पनी में एक्स्ट्रा का काम, फिर रासधारियों के साथ गुजरात में गाँव-गाँव घूमने का काम और अन्त में प्रूफ रीडरी का काम। दरअसल उसका मन हमेशा अपनी साधना कला के पीछे ही पड़ा रहा। इसलिए प्रेस में जाकर प्रूफ रीडिंग शुरू करते ही उसके मन में संघर्ष चलता रहता था कि – प्रूफ रीडर बनकर उसने अपनी कला साधना के साथ विश्वासघात किया। लेकिन उसने रोटी कमाने के साथ साथ अपनी शिक्षा के लिए, अपने पैरों पर खड़े होने का संघर्ष भी लिया था, वह एक नाटक लिखकर स्टेज कर चूका था। अब 'गुड़िया और लोरी' नामक नाटक तैयार है, जिसका स्टेज भी किया जाएगा। फिर भी वह उदास था। कुछ होशियार किस्म के लोग सुनिल जैसे कलाकारों के कमज़ोर नब्ज को पकड़कर अपना भविष्य सुनहला करना चाहता है। एक दिन प्रेस मालिक ने उसे पास बुलाकर कहा – “मैं यह वचन देता हूँ कि – तुम्हारा नाटक 'मिट्टी की मूरत' इस शर्त पर छाप सकता हूँ कि – तुम इसका कॉपी राइट हमारे हाथ बेच डालो।”¹

¹देवेन्द्र सत्यार्थी, कठपुतली, पृ : 118

कला का असली मूल्य आँकने में असमर्थ प्रेस मालिक जैसे मुनाफेदार व्यापारियों की दृष्टि में एक रचना का महत्व उसकी बंधाई और छपाई से है। जो उसके शब्दों में - “हम इसे दो रंगों में छापेंगे, बढ़िया कागज़ लगायेंगे।”¹ एक स्टैम्प पेपर पर इकरारनामा लिखकर प्रेस मालिक ने सुनिल के हस्ताक्षर करा लिये और पड़ोस से दो आदमियों को बुलाकर गवाहियाँ डलवा लीं।

यह सब एक तरह की मशीनी गति से हो गया। सुनिल ने जैसे सब कुछ समझते हुए और सब कुछ देखते हुए भी शोषण के हाथों में अपने को सौंप लिया। जैसे - “वे तीन सौ रूपए तीन हज़ार के बराबर हो, जो इकरार के मुताबिक प्रेस मालिकों ने सौ-सौ की तीन किस्तों में तीन महीनों के भीतर अदा करने का वचन दिया था।”²

इस संदर्भ से ज़्यादा भी भिन्न नहीं है हरिकृष्ण प्रेमी का “छाया” नामक नाटक का कलाकार प्रकाश की स्थिति, जो उनके शब्दों में स्पष्ट है - “मेरी एक भोली-सी पत्नी है, और फूल-सी बच्ची है। मेरी कविता उनका पेट नहीं पाल सकती।”³ वह भी प्रकाशक वर्ग के चंगुल में पड़कर, उनके शिकार बनकर जीवन बिताने के लिए मज़बूर हो जाता है। आर्थिक विषमता की

¹ देवेन्द्र सत्यार्थी, कठपुतली, पृ : 118

² देवेन्द्र सत्यार्थी, कठपुतली, पृ : 118

³ हरिकृष्ण प्रेमी, छाया, पृ : 16

भीषण स्थिति में समकालीन समाज के कृषकों की तरह वह भी आत्महत्या के लिए प्रेरित हो जाता है। प्रकाश ने अपनी आर्थिक तंगी के कारण अपने नाटक 'मिलन' जिसका दसवाँ संस्करण भी निकाल चुका था, प्रकाशक को सिर्फ १५० रूपये से बेच दिया था। उसकी मज़बूरी इन शब्दों में फूट निकली है – “कुर्की का वारंड लिए सरकारी प्यादा दरवाज़े पर खड़ा था।”¹

आर्थिक लाभ और लोभ के मोह में पड़े प्रकाशकों के चरित्र के असलियत से वह भली-भाँती अवगत है – “ वे तो चाहते हैं मैं उनका आश्रित बन रहूँ। इतनी रोटियाँ वे मुझे देते रहे, जिनसे मेरी साँस चलती रहे, लेकिन खून न बड़े, ताकि वे संसार से कह सके कि – उन्होंने प्रकाश जैसे महान कवि और नाटककार को जीवित रखने का उपकार किया है।”²

कलाकार के भीषण आर्थिक संकट से लाभान्वित होकर कुछ प्रकाशक वर्ग कला को सस्ते माल बनाने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वे रचना की बाहरी शोभा को अधिक बल देने के साथ-साथ इसके भीतरी विषय को भी व्यवसायोन्मुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं। अधिक लाभ यही उनका एक मात्र लक्ष्य है। समाज के लिए यह कैसे हितकर होगा इस पर वह कभी भी चिंतित नहीं है। सुरेन्द्र वर्मा का नया नाटक 'रति का कंगन' समकालीन समाज के आर्थिक संकट से उत्पन्न कला जगत के बाज़ारीकरण

¹ हरिकृष्ण प्रेमी, छाया, पृ: 17

² हरिकृष्ण प्रेमी, छाया, पृ: 17

पर तीखा प्रहार करने वाला एक है। इसका नायक मल्लिनाग की उपस्थिति प्रथम दृष्टता 'गीता' से सम्बंधित विषय के शोधार्थी के रूप में होती है, लेकिन अकादमिक संसार में मनोदैहिक क्षुद्रताओं का शिकार बन कर धनार्जन की खातिर उसे 'कामसूत्र' के लेखन के लिए विवश होना पड़ता है। बाद में मल्लिनाग की रचना-कुशलता एवं विषय गहरता से इस कालजयी कृति की सतत् ख्याति संभव होती है साथ ही इसका विक्रय भी बढ़ता है। लेकिन प्रकाशक संदीपन की लालची दृष्टि मल्लिनाग को अपनी क्षमता के प्रतिफलन देने से वंचित करता है। "क्यों मेरा लहू जला रहे हो? कोई अग्रिम-फग्रिम नहीं। तुम्हारा ग्रंथ मेरी लुटिया डुबोने को उतारू है।"¹ प्रकाशक संदीपन के इस छल से मल्लिनाग अपने धनार्जन के बुनियादी लक्ष्य में असमर्थ होता है। आज की भूमण्डलीकृत पूँजी की चकाचौंध की दुनिया में मनुष्य और मानवता को छल कपट द्वारा अपमानित करने की प्रवृत्ति प्रबल हुई है। हरिकृष्ण प्रेमी का नाटक "छाया" में भी कर्जदारों की अमानवीय प्रवृत्ति का चित्रण हुआ है। प्रकाश की पत्नी छाया के शब्दों में - "रूपए वालों के दिल नहीं होता। जिन लोगों के घर लाखों रूपए पड़े है, वे भी दो दिन की मोहलत नहीं देते, एक पैसे की छूट नहीं देते।"²

¹ सुरेन्द्र वर्मा, रति का कंगन, पृ : 83

² हरिकृष्ण प्रेमी, छाया, पृ : 9

सुरेन्द्र वर्मा का नाटक 'कैद-ए-हयात' में मिर्जा ग़ालिब के जीवन भी ऐसे संदर्भों से गुजरते हैं। उसने अपना सारा जीवन आर्थिक संकट से उत्पन्न संघर्षपूर्ण हालत में व्यतीत किया। वे हमेशा कर्जदार रहे। जब वे कलकत्ता जा रहे थे तब भी चाँदनी-चौक के एक महाजन से एक साल के लिए कर्ज लेकर गए और तीन साल तक ब्याज का एक भी किश्त अदा नहीं किया। इसलिए मिर्जा के वापस लौटते ही उस पर डिग्री करा दी और शर्त होती है कि – उसे तभी गिरफ्तार किया जाएगा जब वह घर की चाहर दीवारी के बाहर निकलेगा।

यहाँ पूँजीपति वर्ग द्वारा कलाकारों के शोषण का चित्रण हुआ है। इस शोषण से कलाकार के अपने स्वतंत्र जीवन और सृजनात्मक मानस में विघ्न पैदा होता है। अगर यह वर्ग कलाकार की सहायता करते हैं तो इसके पीछे किसी भी कूटनीति अवश्य होगी। क्योंकि 'अर्थ' की अदम्य इच्छा के कारण वे सच्चे कलाकार और उनकी साधना को पहचानने में असमर्थ रहते हैं। वे कला को व्यावसायिकता की दृष्टि में ही देखते हैं। शंकर शेष का 'मूर्तिकार' नाटक के करोड़ीमाल ऐसे वर्ग का प्रतीक है। उनके अपने ही विशेषण में – "मैं इस शहर में वनस्पति घी का सबसे बड़ा व्यापारी हूँ। कई लोग तो मुझे वनस्पति सम्राट सेठ करोड़ीमाल कहते हैं।"¹ वह अपने वनस्पति व्यापार के प्रचारण के लिए शेखर की कला-साधना को उपयोगी बनाना चाहता है।

¹ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 70

करोड़ीमाल जैसे व्यापारी लोग कला का असली मूल्य आँकने में बिल्कुल असमर्थ है, यह बात शेखर अच्छी तरह जानता है। करोड़ीमाल के प्रति शेखर की टिप्पणी कितना सार्थक है? “अरे वाह साहब छछूंदर के सिर चमेली का तेल।”¹ अपनी आज्ञा और शर्त के अनुसार मूर्ति बनाने का करोड़ीमाल का जो सुझाव है, वह कला सृजन के प्रति उसकी अज्ञता और मूर्खता का परिचय है – “इसका जो ऊपर की ओर उठा हुआ हाथ है न, उस पर मेरे वनस्पति घी का डिब्बा बना दीजिए। जनाब शोकेस की शान रह जाएगी। लोग इस विज्ञापन को देखकर वनस्पति खाने के लिए तड़प उठेंगे।”² करोड़ीमाल के सुझाव को ठुकराते हुए अपनी प्रतिक्रिया यों करता है – “सेठ जी, अभी तक मैं किसी तरह आपकी बातें सुनता रहा। पर अब आप मेरे धैर्य की परीक्षा ले रहे हैं। आप सोचते हैं, मैं वनस्पति घी का विज्ञापन बनाने वाला पेंटर हूँ। यह सब कहने की हिम्मत कैसे हो गयी आपको।”³

व्यापारी सहज व्यापारी ही होता है। कला को और कलाकार की ईमानदारी को समझने में वे सदा असमर्थ ही रहते हैं। वह कलाकार की रचना के बदले तीन सौ रुपये देने का वादा करता है – “देखिए शेखर बाबू,

¹ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 70

² शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 70

³ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 70

आप मेरा अपमान कर रहे हैं। पर मैं ने आज तक मान-अपमान की कभी परवाह ही नहीं की। आपको मैं तीन सौ रूपये दे सकता हूँ। बस मेरा काम कर दीजिए।”¹

शेखर पैसे के मोह जाल में पड़कर कला को पतन के अगाध गर्त में डालना नहीं चाहता है। कला को वह अन्य किसी से ज़्यादा मूल्यवान समझते हैं। उनके लिए कला ही दौलत है – “आप तीन सौ तो क्या हजार भी देंगे तो मैं अपनी मूर्ति आपके हाथ नहीं बेच सकता। क्या मुझे आप अपनी तरह व्यापारी समझते हैं? परवाह नहीं, मैं भूखे मर जाऊँ पर अपने चित्र और मूर्ति अरसिकों के हाथ नहीं बेचूँगा। अब आप जाइए और अपने घी का धंधा संभालिये। यह कला आपके बस का रोग नहीं है।”²

अर्थ केंद्रित समाज में किसी भी प्रवृत्ति के पीछे ‘अर्थ-लाभ’ का चेहरा छिपा हुआ है। भीष्म साहनी का नाटक ‘हानूश’ के अन्तर्गत देखे तो इसमें हानूश के घड़ी बनाने के समय नगरपालिका की ओर से आर्थिक सहायता मिली थी। जब घड़ी बनाने का काम पूरा होता है तो इस नगर पालिका के व्यापारी लोग इस मदद के वजह से घड़ी नगर पालिका में लगाने का प्रयास करते हैं। इनकी यह प्रवृत्ति कला के प्रति ख़ास ममता के कारण तो नहीं है,

¹शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ: 70

² शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ: 70

वे केवल व्यापारी की दृष्टि से ही इसे आँकते हैं। उनके अनुसार – “यह शहर का मरकज़ है। शहर का सारा कारोबार यहाँ होता है। दिसावर से सैकड़ों व्यापारी लोग आते हैं। यहाँ घड़ी लगने पर लोग दूर-दूर से उसे देखने आया करेंगे। यात्रियों का ताँता लगा रहेंगा। अभी से लोगों को पता चल गया है कि कोई घड़ी बनी है, किसी कुफलसाज़ ने घड़ी बनाई है। --- मैं तुम्हे सच कहता हूँ, इस बात की बड़ी धूम मचेगी। यूरोप भर से लोग इसे देखने आया करेंगे। हमारे व्यापार को चार चाँद लग जाएंगे। दुकानों के किराए बढ़ जाएंगे। यहाँ ज़मीन-जायदाद की कीमत बढ़ जाएगी।”¹

अर्थ लाभ के इच्छुक ये व्यापारी वर्ग हानूश की अदम्य इच्छा और वासना से उभरी कला साधना ‘घड़ी’ को ‘बिसिनेस’ बनाना चाहता है। इसके लिए वे हानूश को आधा मुनाफा देने को भी तैयार हो जाता है। इतना ही नहीं उनके बिसिनेस नज़रिया इतना बढ़ता है कि हानूश की बेटी को टाबर के बेटे के साथ शादी करवाकर हानूश को पूर्ण रूप से इस्तेमाल करने की कूटनीति भी रचता है। जार्ज के शब्दों में – “हानूश फिर घड़ी साज़ों की जमात में शामिल हो जाएगा। वह फिर अपने पादरी भाई की भी नहीं सुनेगा, वह अपनी बेटी की और अपने दामाद की सुनेगा।”²

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ: 65

² भीष्म साहनी, हानूश, पृ: 69

अर्थ लोलुप व्यापारी वर्ग की व्यावसायिक मानसिकता इसमें स्पष्ट हो जाती है। यहाँ यह भी देख लेने की बात है कि – पैसे के आगे धर्म, जाती वर्ण आदि सब मिट जाते हैं। किसके पास धन है, संपत्ति है, वही उच्चवर्ग है।

आर्थिक संकट और कला में नैतिकता

नैतिकता का संबंध मानव समाज के अपने आचरण से है। सृजन शील प्राणी के रूप में मनुष्य का आचरण वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति सामाजिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर उपयोगी एवं निरुपयोगी क्रियाओं में व्यक्त होता है और इन्हीं रूपों में उसकी नैतिकता व्यवहृत होती है। मनुष्य के सभी मूल्यों की उपलब्धि के पीछे नैतिक दृष्टि रहती है।

कला में नैतिकता का प्रश्न भी आत्मनिर्भर है। कला के प्रति स्वयं समर्पित, आदर्शवादी, सृजनशील व्यक्तित्व भी कभी कभी कटु आर्थिक संकट से उत्पन्न गरीबी, भूखमरी, बेकारी, अकाल जैसे विस्फोट में पड़कर परिस्थितियों से समझौता कर लेने के लिए विवश हो जाता है। यहाँ कला की नैतिकता का पतन संभव हो जाता है।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक साहित्यकार जैनेन्द्र कुमार का कथन इस संदर्भ में उचित सिद्ध होता है कि – “साहित्य में से आजीविका प्राप्त हो सकती है, लेकिन साहित्य-सृष्टि पर उसका बोझ पड़े, इसको मैं इष्ट नहीं मानता। मेरी धारणा है कि इसका परिणाम भी इष्ट नहीं हो सकता। मैं सोचता हूँ कि यह

हो सकता है कि – कोई कुछ लिखे और उस लिखने का फल यह हो कि उसे अनेक-अनेक का प्रेम प्राप्त हो। इस तरह आजीविका आदि का प्रश्न उसके लिए कहीं रह ही नहीं जाय, लेकिन उसके मन की ओर से उसके साहित्य पर इस आजीविका के विचार का जिस मात्रा में बोझ पड़ेगा उसी मात्रा में साहित्य की उत्तमता में क्षति आ जानी चाहिए, ऐसा मैं समझता हूँ।”¹

शंकर शेष का नाटक ‘मूर्तिकार’ में अनादी ऐसा एक कलाकार है, जो आर्थिक संकट से उत्पन्न कटु जीवन सत्य और संत्रास को झेलता हुआ परिस्थितियों से समझौता कर लेता है। अनादी स्वीकार करता है कि – अर्थाभाव ने उसे अर्थ पिशाच बना दिया है। आर्थिक विषमता ने अनादी को बुरी तरह तोडा है। और कला जगत में नैतिकता के संघर्ष का मार्ग छोड़कर अनैतिकता की सफलता का रास्ता चुनने के लिए प्रेरित किया था। उनकी राय में “मेरी माँ इतनी जल्दी नहीं मरने वाली थी। उसे अच्छा खाना मिलता, अच्छा घर मिलता, अपने लड़के से सुख मिलता, तो वह अधिक दिन जीती, पर उसे गरीबी ने निगल लिया। वह मौत से नहीं मरी, गरीबी से मरी है।”² अनादी अपनी माँ की मौत का कारण अपने को मानता है --- “अपनी माँ को मौत के मुँह में ढकेलकर साहित्य और कला की चर्चा करता रहा। उधर माँ को यम के भयंकर दूत सता रहे होंगे और मैं? मैं यहाँ

¹ जैनेन्द्र कुमार, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ: 351

² शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ: 90

कल्पना की परियों से प्यार करता रहा। भाभी, मुझ जैसीनालायक संतान किसी माँ की कोख से पैदा न हो।”¹ माँ की मृत्यु से आहत होकर वह संघर्ष का मार्ग छोड़कर सफल होने के आसान रास्तों की ओर निकल पड़ता है। “अब माँ के साथ मेरे मन की शांति सदा के लिए मर गयी है शेखर। अब मेरे मन में विद्रोह की आग भड़क रही है। अब मैं अच्छी तरह समझ गया कि भूखे पेट कला और सौन्दर्य की सब बातें फ़ालतू है। इस भौतिक वादी दुनिया में पहले पैसा है और बाद में और सब कुछ।”² वह आत्मव्यथित होकर कहता है – “अब अपने आपको बेच दूँगा। अपनी प्रतिभा को बेच दूँगा। अपने नाम कमाने के सुनहरे सपनों को बेच दूँगा। शेखर, अब कला के नाम पर भूखों मरने वाला अनादी मर गया।”³

अनादी फिर आदर्शवाद और साहित्यिक आदर्शों से बहुत नीचे गिरकर शंतनुकुमार नाम से अश्लील उपन्यासों का सृजन करके अधिक धन कमाते है। यहाँ कला का पतन होता है, नैतिकता का पतन होता है, लेकिन कलाकार रहा धनवान। “हाँ शंतनुकुमार में मुझे रुची लेनी ही होगी --- उसने मुझे धन दिया है --- उसने गरीबी से मुझे मुक्ति दी है। मैं शंतनुकुमार के ऋण से कभी छुटकारा नहीं पा सकता।”⁴ अनादी का यह कथन उनका

¹ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 91

² शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 91

³ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 91

⁴ शंकर शेष, मूर्तिकार, पृ : 109

ही नहीं आर्थिक विषमता के कराल हस्त में पड़कर परिस्थितियों से समझौता करने पड़े अनेकानेक कलाकारों के जीवन यथार्थ का अपना कथन है। कला के प्रति ईमानदार रहकर जीवन के कटु यथार्थ का मुकाबला करना हर कलाकार के जीवन की शाश्वत समस्या है।

सामाजिक अर्थ संकट और कलाकार

आज हमारे समाज में आर्थिक शोषण दिन-व-दिन बढ़ता जा रहा है। आर्थिक शोषण से उत्पन्न गरीबी और बेकारी नैतिक मूल्यच्युति को बढ़ावा देती है। इस समस्या के पीछे हमारी व्यवस्था का भी मुख्य हाथ है। इसके द्वारा ही अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब, होते जा रहा है। इस अवसर पर समाज के सबसे संवेदनशील प्राणी कलाकार चुप से रहना अपना दायित्व नहीं समझा है। इन्होंने समाज की इस भीषण स्थिति के विरुद्ध अपने सृजन आन्दोलन प्रारंभ किया। इनकी नवीन प्रगति चेतना में रूढिबद्ध सामाजिक आस्था एवं विश्वासों के खण्डन के साथ साथ समाज की आर्थिक विषमताओं के विरुद्ध क्रांति का सन्देश भी भरा हुआ है। इस तरह के कलाकारों में एक है नरेन्द्र मोहन।

नरेन्द्र मोहन ने अपना नाटक 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' में आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के जाति-वर्ण-वर्ग पर आधारित अमानवीय अत्याचार एवं शोषण का खुलकर विरोध किया है। इसके लिए उन्होंने प्राचीन काल में अत्याचार एवं अमानवीयता के विरुद्ध सदा सजग रहे युग पुरुष कबीर को

और उनके परिवेश का सहारा लिया है। क्योंकि कबीर ने तत्कालीन शासन काल को चोरों और डाकुओं का राज कहा है। यही स्थिति आज के समाज में भी मौजूद है। यहाँ रात-दिन मेहनत करना गरीबों की नियति बन गयी, पेट भर अन्न खाकर सुखमय जीवन बिताना अमीरों की आदत बनी है। पूँजीपति वर्ग अपने स्वार्थवश आम लोगों का राक्षसी शोषण करते आ रहे हैं। व्यवस्था और सत्ता के बल बूते पर ही वे इस शोषण में लगे हुए हैं।

कृषि प्रधान भारतीय समाज में भूमि का स्वामित्व ज़मीन्दारों पर निर्भर है। इस भूमि पर उत्पादन यानी कृषि का कार्य मज़दूर ही करते हैं। मज़दूर के दिन-भर श्रम के फल पर ज़मीन्दार वर्ग ऐशोआराम जीवन यापन करते हैं। नरेन्द्र मोहन ने 'कहै कबीर सुनो भाई साधो' नामक नाटक के प्रथम दृश्य में ज़मीन्दार वर्ग द्वारा आम आदमी के इस शोषण पर इशारा किया है। पशुओं से भी बदत्तर जिन्दगी बिताने के लिए मजबूर एक अछूत आदमी की पीड़ा यो मुखरित होती है –“कुछ नहीं होना, इस भक्ति-वक्ती से। कौन बचायेगा हमें दरिंदों से। कितनी बुरी तरह से पीटा है हमें ज़मीन्दार के कारिन्दों ने। क्या कसूर है हमारा? यही न कि – हम चमार हैं।”¹

ज़मीन्दार वर्ग द्वारा आम आदमी पर शोषण एक-दो दिन की बात नहीं है। कई ज़माने से यह प्रवृत्ति जारी है। “अरे, तकलीफ का इतिहास तुम खोजते रही। हमें तो तकलीफ दिन-रात कचोटती रहती है। जानते हो हम

¹ नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधो, पृ : 18

सैकड़ों वर्षों से इसी तरह पिटते चले आ रहे हैं। क्या कसूर है हमारा? यही न कि हम नीच जात हैं। चमार हैं।”¹

नाटककार समाज में फैले ऐसे शोषण पर अपने अंतर्द्वंद्व एवं संवेदना ‘कबीर’ के द्वारा व्यक्त करता है। “माँ, यही रहा, बस्ती के लोगों में। कितने दुःखी है वे। उनके दुःख-दर्द सुनता रहा। मेहनत करते हैं तो भी दुःखी। कौन छीन लेता है उनसे मेहनत के फल।”²

व्यवस्था सदा ही पूंजीपतियों एवं ज़मीनदारों को ही साथ लेता है। नीचे तबके के किसान-मज़दूर पर और उनकी शिकायतों पर कभी भी वे ध्यान न देती हैं। इसी कारण समाज में इन वर्गों का आर्थिक शोषण होता ही रहता है। नाटक के दृश्य चार में इस समस्या को लेकर कबीर, बिजली खां और बोधन का संवाद चलता है –

“कबीर : मगहर हो या काशी, अभी तो वहाँ जीते जी नरक ही है। ये लोग हाकिम से ठाकुर, पटवारी और मुकद्दम की शिकायत क्यों नहीं करते?

बोधन : कोई नहीं सुनता। एक किसान फरियाद लेकर दीवान मियां भुवा के पास गया। दीवान ने अपने सिपाहियों द्वारा बंधवाकर उसे इतनी बुरी तरह से पीटा कि – उसकी जान निकल गयी।

¹नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधो, पृ : 19

²नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधो, पृ : 32

कबीर : यह तो सरासर अन्याय है। क्या सुलतान को खबर है कि –
उसके राज में इतना जुल्म हो रहा है?

बिजली खां : उसे खबर क्यों न होगी। उसके जासूस हर सरदार,
अमीर, वजीर और दीवान के गिर्द छाया की तरह मंडराते रहते हैं।
उसके इशारे से ही सब होता है।”¹

समाज में ज़मीनदार वर्ग की तरह साहूकार वर्ग भी आम-आदमी का
शोषण करने में आगे है। साहूकार किस प्रकार जन साधारण को अपने धन
एवं दौलत के सामर्थ्य पर प्रताड़ित करता है इसका चित्रण भी इस नाटक में
हुआ है। बोधन के शब्दों में – “जुलाहों की दुर्गति है दिन रात मेहनत करते
हैं और अधपेट रहते हैं। ऊपर से ठाकुर और परवारी के अत्याचार। मुकद्दम
भी उनसे मिला हुआ है।”²

समाज सेवा एवं समाज हित को जीवन का लक्ष्य समझे युग प्रवर्तक
कबीर इस साहूकारों के शोषण के विरुद्ध खड़ा होता है। वह आम जनता के
शोषण के खिलाफ इन सभी का सामना करते हैं, तथा इनकी वाणी के
सामने साहूकार एवं महाजन वर्ग परास्त हो जाते हैं। ठाकुर, परवारी,
कोतवाल आदि साहूकारों के शोषण से त्रस्त आम-आदमी को कबीर, इन
सब शोषण के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा देते हैं।

¹ नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधो, पृ : 37-38

² नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साधो, पृ : 37

शोषक पूँजीपति वर्ग ने संसार की अर्थ व्यवस्था को विकृत बना दिया है। जन साधारण की रोज़ी-रोटी छीन कर उन्हें कायर एवं नपुंसक बना दिया है। अपने स्वार्थ लाभ के लिए वस्तुएं जमाकर कृत्रिम अकाल उत्पन्न कराने वाले ज़मीनदार, पूँजीपति जैसे संपन्न, आम जनता को गरीबी और भूखमरी की ओर धकेल देते हैं। तब समाज के प्रतिबद्ध कलाकार परिवेश की इन विषमताओं को कभी अनदेखा न कर सकता है। स्वयं कष्ट झेलकर वह समाज की सेवा करने में सक्षम रहते हैं। इसका एक सशक्त उदाहरण है नरेन्द्र मोहन के नाटक 'अभंग गाथा' का नायक तुकाराम। जब अपने समाज में अकाल का भीषण-ताण्डव चलता है नदियाँ सूखी पड़ी, कुएँ, बावड़ियाँ, खेत-खलिहान। न फूल न फल। सूखकर फटी दरारों भरी धरती। घास का एक तिनका नहीं। सूखे का यह दैत्य रोज-रोज ले लेता दो-चार मनुष्य की जान ---- न पानी का कतरा, न अन्न का दाना। बेहाल है सभी --- न कोयल की कूक, न कबूतर की गुटर-गूँ, न कव्वों की काँय- काँय। लोगों को चीलों की तरह झपट्टा मारते देख चिड़ियों के झुंड अपने घोंसलों को छोड़कर चले गए। खेतों में बैल मरे पड़े हैं, हर तरफ लाशों की दुर्गंध। भूख-प्यास से लोग इधर उधर भटकते हैं तब तुका का मन व्यथा से भरता है। वह अपने और परिवार के भूख प्यास की परवाह न करके घर में रहे आखिरी अनाज तक इन लोगों को देता है। अपने पति की दानशीलता से पत्नी जिजाई रूठती है। घरवालों की चिंता किये बिना दूसरों की मदद करने वाले अपने पति को

वह पागल मानती है। - “रुको यह आखिरी अनाज घर में है। हमें भूखे मारोगे? (लोगों से) मेरा पति पागल हो गया है। भाग जाओ।”¹

सामाजिक विषमता कलाकार को यहाँ तक संवेदनशील बनाते हैं कि – बाहर से देखने से दूसरों को वह पागल-सा लगता है। लेकिन यह कलाकार के अपने सहजीवियों के प्रति करुणा, सहानुभूति और अपनापन का स्पष्ट प्रमाण है। इस तरह और एक चरित्र है अमृत लाल नागर का ‘मानस का हंस’ उपन्यास का नायक तुलसी दास। इसमें नागर जी ने तुलसी के इतिवृत्त के साथतद्युगीनमाने मुगलकालीन आर्थिक परिवेश का सजीव चित्र भी प्रस्तुत किया है। उस काल में सामान्य जन आर्थिक दृष्टि भूख एवं कंगाली का जीवन व्यतीत कर रहा था। यह तुलसी के संवेदनशील हृदय में टकराहट पैदा करता है। तुलसी संत बेनी माधव को सुनाते हुए कहते हैं – “कुरुक्षेत्र में उन दिनों बड़ा भीषण अकाल पड़ रहा था। दिल्ली, आगरा, मथुरा आदि सभी जगह प्रजा त्राहि त्राहि कर रही थी। खेती विहीन उजड़ा भूखण्ड रुखी, काया, फीके कष्ट और चेहरों वाली कंकालवत् कायाएं इधर उधर डालती थी। इन्हें देखकर लोग घेरते बाबा भूखे है, बाबा रोटी, रोटी।”²

¹ नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 37

² अमृत लाल नागर, मानस का हंस, पृ : 165

उन दिनों अयोध्या से काशी तक भीषण अकाल फैला हुआ था। फटे हाल, काल की कठोर वार से पिरे हुए चेहरों वालों की सैकड़ों करुण आँखें इधर उधर हर गली-कूँचे में, हर द्वार पर आशा की एक बुझी सी चमक लिए हुए हर समय दिखलाई पड़ी। अकाल के भीषण विष ने जन जीवन पर ऐसे सीत्कार किया कि – “बड़ी-बड़ी हवेलियों के दरबान भीड़ को डंडों से धमकाकर पीछे हटाते हुए नज़र आ रहे हैं। भूखे जन रोटी के बजाय मार और गालियाँ खा रहे हैं। कहीं-कहीं सदाव्रत भी बंट रहा है। दो मुट्ठी लैया, चना या मोटा नाज पाने के लिए भूखी भीड़ इस उतावली से आगे बढ़ती है कि आपस में धक्का मुक्की हो जाती है। जगह-जगह गाली-गलौज, मार-पीट। बच्चे कुचल जाते हैं। कमज़ोर बूढ़े-बूढ़ियाँ उतावले जवानों के धक्कों से चुटीले हो जाते हैं। कभी-कभी पीछे रह जाने वाले जवान स्त्री-पुरुष गिरे हुए बूढ़ों के ऊपर से फलांगते हुए ऐसे अन्धाधुन्ध भागते हैं कि उनकी ठोकरो से गिरे हुए दुर्बलों की चीत्कारें वातावरण को भी करुण बना देती हैं।”¹

तुलसी दर्द से छलकती आँखों से यत्र-तत्र यह सारे दृश्य देख रहे थे उन्हें यह भी देखना पड़ा कि भूख के मारे लोग पशु बन जाते हैं, धार्मिक विश्वासों का उपहास होने लगे। आर्थिक लोभ से आकर्षित होकर लोग इस्लाम धर्म को अपनाने लगे, अपने बेटे-बेटियों को पैसे के लिए बेचने लगे।

¹ अमृत लाल नागर, मानस का हंस, पृ : 154

उन्हें लगा कि -स्त्री और धन की लुट का नाम ही कलिकाल है। सारे पाप यही से आरंभ होते हैं।

तुलसी के मुँह से ये भयानक सामाजिक वातावरण कविता बनकर निकलते हैं - “खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि, बनिक को बनिक, न चाकर को चाकरी। जीविका विहीन लोग सीधमान सोचबस, कहै एक एकन सों कहाँ जाई का करी। दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबंधु दूरित-दहन देखि तुलसी हाहाकारी।”¹

समाज में व्यवस्था का निर्माण जनता की सेवा के लिए होता है, लेकिन आज वही व्यवस्था ही गरीब लोगों को लूटने पर तुली हुई है। ज़मीनदार और पूंजीपतियों के साथ मिलकर आम जनता का शोषण करने में आज व्यवस्था व्यस्त है। लेकिन कलाकार सभी काल में सहृदयत्व का प्रतीक है। उन्हें अपने सहजीवियों पर शोषण देखते नहीं रह सकते हैं।

रांगेय राघव का उपन्यास ‘भारती का सपूत’ में कवि भारतेन्दु भी ऐसे व्यक्तित्व वाले कलाकार हैं जो सहजीवियों से सहृदय हैं और आम आदमी के शोषण और दुरवस्था को देखते नहीं रह सकते हैं। वह अपने युग के बंधनों के बावजूद भी कला और साहित्य का नाता सीधे जन जीवन से

¹ अमृत लाल नागर, मानस का हंस, पृ : 159

जोड़ना चाहते हैं। “यही था वह कुलीन जो मनुष्य से प्रेम करने जानता था। यही था वह धनी जो उन्मुक्त हाथों से अपने वैभव को दरिद्र का आँचल भरने के लिए लुटाया करता था।”¹ समाज में फैली आर्थिक विषमता और शोषण के प्रति वह हमेशा परेशान दिखाई देता है --- “अर्थ!! अर्थ!! तुझमें भयानक शक्ति है, तू सचमुच पिशाच ही है।”² उनके अनुसार यह धन ही आदमी को लालची और कायर बनाता है। आदमी की जरूरत मंदी उनसे देखी नहीं जाती। इसलिए वे दिल खोलकर दान देते थे। आर्थिक हालत के अत्यंत बिगडती स्थिति में भी वह दूसरों को सहायता करने में लगा रहा। उपन्यास के एक संदर्भ में – “जब आप काशी में श्रावण के प्रत्येक मंगल वाले दुर्गा के मेले में जाते थे, तब एक बार आपको मालुम हुआ कि – एक डिगरीदार आज वारंड भेजेगा। आप सुबह ही काशीराज के पास गए। प्रार्थना की। राजा ने ७०० तुरंत दिए। केशोराम के बाग़ में आप मेला देख रहे थे कि – एक ब्राह्मण आया और अपनी बेटी के ब्याह के प्रबंध के लिए सबसे एक-एक, दो-दो रुपया माँगने लगा। किसी ने नहीं दिया। हरिश्चन्द्र ने नौकर से कहकर वह ७०० उसे दिला दिए और बाग़ से उतरते ही वारंड मिला। आपने कहा, ‘मुझे गिरफ्तार कर लो, मेरे पास रुपया नहीं है।’³

¹ अमृत लाल नागर, मानस का हंस, पृ : 120

² अमृत लाल नागर, मानस का हंस, पृ : 94

³ डॉ रांगेय राघव, भारती का सपूत, पृ : 112

स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों की सहायता करने का जो दिल है वह कलाकार की खास विशेषता है।

नाटककार मणि मधुकर का नाटक इकतारे की आँख के कबीर भी ऐसा कलाकार है। जब मगहर में अकाल पड़ने की वजह से वहाँ की आम जनता आर्थिक अभाव के भयानक संकट में पड़ती है, लोगों के पास न अन्न है न पैसा जिसके कारण लोग भूखे मर जाते हैं। पेट की भूख मिटाने के लिए अनेक दुष्कर्म भी ये लोग करते हैं। वे निर्धनता तथा आवास की कमी के कारण एक दूसरे पर झपट पड़ते हैं। तब इस भयावह परिस्थिति को देखकर कबीर विचलित होकर लोई से कहते हैं –“मगहर वालों के लिए हम क्या कर सकते हैं? कभी अकाल, कभी बाढ़, कभी महामारी”¹

इस नाटक में कबीर मगहर के अन्याय शोषण, अत्याचार के कारण चिंतित दिखाई देते हैं। आर्थिक संकट से उत्पन्न गरीबी ज्यादातर कलाकारों की विवशता है। साथ ही अपने परिवेश की विषमताओं से वे कभी भी अछूता न रहता है। समाज की विसंगतियाँ अत्याचार आदि सब उनके मन में आहत पहुँचाते हैं। इन्हीं विषमताओं से स्वतंत्र होकर भावुक सृजन में लीन होना उनके लिए असंभव ही है। नागार्जुन की राय बिलकुल सही है –

¹ मणि मधुकर, इकतारे की आँख, पृ : 70

“कैसे लिखूँ शान्ति की कविता
अमन-चैन को कैसे कड़ियों में बाँधूँ
मैं दरिद्र हूँ, पुश्त-पुश्त की यह दरिद्रता
कटहल के छिलके जैसी खुर दरी जीभ से
मेरा लहू चाटती आई
मैं न अकेला ----
मुझ जैसे तो लाख-लाख है, कोटि-कोटि है।”¹

निष्कर्ष

अर्थ मानव जीवन का विधायक है। एक सशक्त आर्थिक व्यवस्था हरेक समाज के निर्माण एवं विकास के लिए अनिवार्य तत्व है। लेकिन सामाजिक निर्माण और विकास के लिए श्रद्ध बद्ध आर्थिक व्यवस्था ने आज भूमंडलीकरण की चकाचौंध में पड़कर समाज को पतन की खाई की ओर धकेल दिया है। यहाँ राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था का नियंत्रण पूंजीपतियों के रिमोट कंट्रोल में है। पूंजीपति वर्चस्व से नियंत्रित इस समाज में हर किसी क्षेत्र की तरह कला के क्षेत्र में भी बाज़ारीकरण का दुष्प्रभाव फैल गए है। यहाँ कला की हैसियत ‘माल’ मात्र में तथा कलाकार का स्थान उत्पादक के रूप में बदल गया है। अतः सच्ची कला और ईमानदार कलाकार का हर तरफ से संघर्ष झेलना एक सार्वभौमिक यथार्थ बन गया है।

¹ नागार्जुन, पुरानी जूतियों का कोरस, पृ : 16

पाँचवाँ अध्याय

कलाकार और रचनाकार की सृजनात्मक प्रेरणा :
विविध आयाम



कलाकार-व्यक्तित्व

सृजन क्षण और सृजन प्रक्रिया कलाकार के जीवन की विशेष अवस्थाएँ हैं। इस संकीर्ण प्रक्रिया से गुज़रते हुए वह अपनी अभिव्यक्ति में सफलता प्राप्त करता है। इस संदर्भ में साधारणतः उनकी अनुभूतियों को आन्तरिक पक्ष और अभिव्यक्ति को बाह्य पक्ष कहते हैं। हम किसी व्यक्ति को सामान्यतः उनके बाह्य पक्ष से समझ लेते हैं। उसी प्रकार कलाकार के बाह्य पक्ष माने उसकी रचना द्वारा हम उसके आन्तरिक पक्ष या व्यक्तित्व को समझने का प्रयास करते हैं। एक रचना, रचनाकार के संपूर्ण व्यक्तित्व को प्रकट करने में असमर्थ रहेगा, यह स्वाभाविक है। फिर भी उसके आन्तरिक पक्ष तक पहुँचने का एक मात्र साधन वह बाह्य पक्ष ही होता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने वाला विचार मोहन राकेश के बारे में डॉ. पुष्पा बंसल द्वारा हुआ है – “उनके व्यक्तित्व की सही तस्वीर न उनके पहनने वाले से पनाह माँगती पतलून, टाई की ढीली मुठी-सी गाँठ और कोट की आस्तीन से चार अंगुल बाहर निकले कमीज़ के कफ में है न उनके ठहाकों में न उनकी बीयर की बोतलों में है और न गोल्ड फ्लैक के टीनों के हिसाब में। असली राकेश उनकी कृतियों में हैं।”¹

इससे स्पष्ट होता है कि कलाकार के व्यक्तित्व को उनकी बाहरी प्रवृत्तियों से आँकना व्यर्थ होगा। क्योंकि व्यक्तित्व तो आन्तरिक पक्ष में

¹ डॉ पुष्पा बंसल, मोहन राकेश का नाट्य साहित्य, पृ : 2

निहित है। उनके आंतरिक पक्ष का प्रतिफलन साधारणतः वह अपनी रचना में प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक साहित्यकार जैनेन्द्र कुमार भी इस तथ्य का सहारा लेता है – “उपन्यास के पात्र हमारी संकीर्णताओं से सीमित नहीं। वे हमारी ही अपनी अव्यक्त भावनाओं के प्रतीक हैं। वे हमारी आत्मा के प्रतीक हैं, हमारे मतग्रहों के नहीं।”¹ रचनाओं द्वारा कलाकार स्वयं प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। अतः रचना की तीव्रता और गहरता का कलाकार के व्यक्तित्व से निकट संबंध रखता है। अज्ञेय के शब्दों में – “व्यक्तित्व की सबलता या निर्बलता ही वास्तव में रचना की सबलता और निर्बलता है।”²

कलाकार की मानसिकता

कलाकार स्वयं एक विशिष्ट व्यक्ति होने के कारण उनकी मानसिकता में भी विशिष्टता स्वाभाविक है। उसकी इस मानसिकता का, सृजन की उद्देश्य परकता अथवा दृष्टि स्थापन के संदर्भ में विशेष महत्व होता है। मानसिकता व्यक्ति की वह केन्द्रीय दृष्टि है जिससे वह वस्तुओं, स्थितियों घटनाओं आदि का एक निश्चित तरीके से विवेचन विश्लेषण करते हुए एक विशिष्ट निष्कर्ष तक पहुँचता है और इस निष्कर्ष रूप में अपनी रचना दृष्टि को समाज के सम्मुख प्रदर्शित करता है। संवेदना की तीव्रता और अनुभूति की तीव्रता के

¹ जैनेन्द्रकुमार, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ : 360

² अज्ञेय, आत्मपरक, पृ : 157

कारण कभी-कभी उनकी मानसिकता असंतुलित होती है। सृजन के उदात्तीकरण द्वारा साधारणतः कलाकार अपना असंतुलित मानस को संतुलित बनाने का प्रयास करते हैं। अतः कला के उदात्तीकरण ही कलाकार की मानसिकता में स्थायित्व लाता है। प्रसिद्ध साहित्यकार मोहन राकेश ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है – “हर अनुभूति, वह किसी विचार को जन्म दे या न दे, वह किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त अवश्य होती है। यदि वह शब्दों में अभिव्यक्त न हो, तो मुख-मुद्रा और अन्य चेष्टाओं के रूप में अभिव्यक्त होगी। और यदि उस रूप में भी अभिव्यक्त न हो सके, तो अन्तर में पैदा होने वाले किसी विकार के रूप में अभिव्यक्त होगी। हम जानते हैं कि – कई मानसिक रोग दबे हुए विचारों और अनुभूतियों की प्रतिक्रिया के रूप में जन्म लेते हैं। वे रोग उनकी अभिव्यक्ति ही हैं।”¹

सृजन क्षण – सृजन प्रक्रिया

सृजन क्षण और सृजन प्रक्रिया, कलाकार की स्वायत्त प्रक्रिया है, जो संकीर्णताओं से भरी रहती है। संवेदनाओं से उत्पन्न अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तक का मार्ग अत्यंत जटिल होता है। मुक्तिबोध इसे कला के तीन क्षण मानते हैं – “पहला क्षण जीवन के तीव्र अनुभव का क्षण, दूसरा इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक फैंटसी का रूप धारण कर

¹ मोहन राकेश, परिवेश, पृ : 173

लेना, तीसरा अंतिम क्षण है – उसे फैंटसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उसकी परिपूर्णावस्था तक गतिमानता।”¹ सृजन की यह प्रक्रिया जटिल होने के नाते, साधना और तप माँगती है। अपने सृजन संदर्भों से गुज़रते हुए प्रसिद्ध कवि रघुवीर सहाय कहते हैं कि – “लिखते वक्त एक खास तरह की एकाग्रता की ज़रूरत होती है। जिसमें आप बहुत कुछ छोड़ते हैं – एक तरह की मानसिक त्याग की ज़रूरत होती है। बहुत चीज़ें आप छोड़ते हैं, बहुत कुछ चुनते हैं, अपने भावात्मक संसार में आप बहुत स्थिर हो जाते हैं। कुछ भावनाओं को आप छान देते हैं, कुछ को आप रखना भी चाहते हैं। यह एक तरह की सख्ती और एक तरह की तपस्या है।”² इस तपस्या में पीड़ा से सुख या आनन्द उत्पन्न होता है। लेकिन इसे पृथक करना असाध्य है। “रचना का निमिष पीड़ा, मानसिक आनन्द और अवसाद का मिला जुला निमिष है। एक जलती मोमबत्ती को आप ध्यान पूर्वक देखिए, बत्ती का अग्रभाग जलकर काला ही हो जाता है और वही और काला अग्रभाग रोशनी बिखेरता है। बत्ती की रोशनी और उसके काले अग्रभाग को हम अलग नहीं कर सकते। रचनारत कवि का सुख-दुःख भी इसके समान है।”³ प्रसिद्ध कोंकणी कवि भगवंत बोरकर का मंतव्य यहाँ समीचीन सिद्ध होता है।

¹ मुक्तिबोध, मुक्तिबोध रचनावली-5, पृ: 92

² रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली-3, (सं.सुरेश शर्मा), पृ – 440

³ बालकृष्ण भगवंत बोरकर, आजकल नवम्बर 1982, पृ: 36

सृजन प्रक्रिया एक व्यवस्थित रूप में नहीं चलता है। रचना प्रक्रिया के दौरान ऐसी-ऐसी चीज़ें उभर आती हैं, जो अक्सर कलाकार की सोच समझ से नहीं होते। अमृतलाल नागर ने सृजन प्रक्रिया के इस पक्ष को बल देते हुए कहा है कि –“नदी के किनारे की बालू अक्सर आगे-पीछे खिसकती रहती है। नदी के किनारे जो गाँव होते हैं उनमें कभी तो बाढ़ आने पर भूमि कट जाती है और कभी बाढ़ आने पर भूमि निकल भी आती है। लेखन प्रक्रिया के दौरान ठीक वही हालत होती है। कभी कभी हम घुटते भी हैं, अँधेरे में राह नहीं मिलती और कभी कभी जब उसके बारे में सोचते भी नहीं हैं, अचानक उसके हल के रूप में हमारे अन्दर एक नया यथार्थ फूट आता है। पर ऐसा कभी कभी ही होता है।”¹ इससे स्पष्ट होता है कि सृजन प्रक्रिया एक चेटित प्रक्रिया नहीं है। एक दिये हुए ढाँचे के अनुरूप इसका प्रयोग भ्रामक ही होगा।

सृजन प्रेरणा

सृजन क्षमता मनुष्य में जन्म जात होती है। इस क्षमता को उजागर करने के लिए कोई न कोई व्यक्ति या घटना प्रेरक बनता है। कला की यह प्रेरणा कोई विशिष्ट कोटि की प्रेरणा तो नहीं है, जो केवल कलाकार को ही मिलती है, अन्य लोगों को न मिलती हो। कला की प्रेरणा हमारे चारों ओर विद्यमान है। इसके विषय सारी दुनिया में, दृश्य और अदृश्य जगत में बिखरे

¹ डॉ. रणवीर रांग्रा, हिन्दी साहित्यकारों से साक्षात्कार, पृ : 234

पड़े हैं। उन्हें पहचानने के लिए कलाकार की दृष्टि चाहिए और उससे पहले कवि का हृदय अवश्य होना चाहिए। कलाकार अपने आंतरिक एवं बाह्य जीवन से अथवा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के अनुभव से कला की प्रेरणा लेता है। उसकी अनुभूति निहित आत्मिक नहीं होती, उसमें सामाजिक संसर्ग निहित होता है। तथा उसका सामाजिक अनुभव निरा सामाजिक नहीं होता, बल्कि उसमें व्यक्तिगत संवेदनशीलता सम्मिलित होती है।

सृजन का मूल उद्देश्य एक हद तक स्वयं कलाकार की खोज है। उसकी अपनी खोज तब तक संभव नहीं होती जब तक वह परिवेश की खोज नहीं करेंगे। कलाकार सृजन में अपनी खोज करते करते धीरे-धीरे परिवेश से और इस विराट विश्व से जुड़ जाते हैं। मलयालम के प्रसिद्ध कवि शंकर कुरुप ने अपने सृजन की प्रेरणा के संबंध में ऐसा कहा है – “मेरी अपनी स्मृतियाँ, चारों ओर घटित होने वाली सामाजिक एवं राजनीतिक किंतु human significance से भरी घटनाएं आदि व्यक्तिगत एवं बाहरी संदर्भों से उपस्थित दोनों तरह के भाव काव्य रचना की उपाधियाँ हुआ करते हैं।”¹

रचना का सृजन कलाकार के एकांत के क्षणों में होता है। किंतु इन एकान्तिक क्षणों में भी परिवेश उसके साथ होता है। समाज तथा परिवेश

¹ रणवीर रांग्रा, साहित्यिक साक्षात्कार, पृ : 58

के सहचरत्व के बिना सृजन संभव नहीं होता। साधारणतः परिवेश की सारी की सारी गतिविधियाँ एवं अवस्थाएँ उनके लिए प्रेरणा बनती हैं। “मैंने असाहित्यिक माहौल में रहकर भी अपने संचित अनुभवों को ‘स्पॉन्टेनियस’ रूप में प्रस्तुत किया है। मेरे लेखन में मेरे परिवेश का बहुत बड़ा हाथ है, बल्कि यों कहे कि – इस परिवेश के बिना मैं लेखक होता ही नहीं।”¹ प्रसिद्ध कथाकार शानी का यह कथन सृजन और परिवेश के संबंध पर प्रकाश डालता है।

जीवन की मूल प्रेरणायें ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं, जो वृत्तियाँ जीवन की और सब क्रियाओं की स्रोत हैं वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं।² प्रकृति और इसकी चेतन एवं अचेतन वस्तुएं, प्रकृति क्षोभ, युद्ध, शोषण परिवेश की सारी की सारी वस्तुएं एवं घटनाएं कलाकार के मन में अनुभूतियाँ भरती हैं और अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती हैं। जितनी गहरी एवं तीव्र घटनाओं से परिवेश सामना करता है, वहाँ उत्पन्न हर एक सृष्टि अत्यधिकमहानतम एवं प्रभावी होगा। इसका विश्लेषण अनुष्टुप के वक्तव्य में ‘अनामिका’ ने इस प्रकार किया है – “भाव का अभाव से संबंध चूँकि घनिष्ठ है, कविता वहीं फलती-फूलती है, जहाँ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक उत्पीड़न का इतिहास लंबा हो। एशियाई, अफ्रीकी,

¹ गुलशेर अहमद खान शानी, आजकल जनवरी 1983, पृ : 33

² डॉ. गुलाब राय, सिद्धांत और अध्ययन, पृ : 69, 70

लाटिन अमेरिकी, जर्मन और पोलिश कविताएँ विश्व की बेहतरीन कविताएँ शायद इसलिए हैं, इन भूखण्डों ने झेला-भोग सहा बहुत है।”¹

परिवेश गत सकारात्मक पक्ष के साथ-साथ नकारात्मक पक्ष भी सृजन के लिए प्रेरणा-दायक है। अतः संघर्ष ही प्रेरणा बनता है। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिवेश कलाकार के स्वतंत्र सृजन में बाधा बनने के साथ-साथ, इससे उत्पन्न प्रतिरोध का स्वर सृजन के लिए प्रेरणा बनते हैं। समाज के प्रति संवेदना और गहन सामाजिक अनुभव उसकी सृजनात्मकता को परिपक्व बनाती है।

तीव्र मनः स्थिति एक हद तक सृजन के लिए प्रेरक बनते हैं। चाहे यह व्यक्तिगत हो या परिवेशगत इससे उत्पन्न द्वंद्व से रचना करना कलाकार के लिए अनिवार्य बन जाते हैं। यह तीव्र मनः स्थिति सुख से हो सकता और दुःख से भी हो सकता है। लेकिन अधिकांशतः दुःख ही प्रभावी ठहरते हैं। इसके संबंध में हरिवंश राय बच्चन की राय है – “तीव्र मनःस्थिति कविता लिखने को विवश करती है। तीव्र मनःस्थिति दुःख की भी हो सकती है, सुख की भी। सुख की मनःस्थिति बिना अभिव्यक्ति के भी भोगी जा सकती है। दुःख की मनःस्थिति बिना अभिव्यक्ति के आसानी से नहीं भोगी जा सकती। ‘निशा निमंत्रण’, ‘एकांत-संगीत’ न लिखता तो आत्महत्या कर लेता।”²

¹ अनामिका, अनुष्टुप, वक्तव्य

² हरिवंश राय बच्चन, दस्तावेज़, जनवरी-मार्च 2003, पृ : 3

एक सच्चे कलाकार के निजी दुःख के साथ-साथ समाज की साधारण जनता के दुःख दर्द भी प्रेरणा बनते हैं। सामाजिक दुःख-दर्द उनके मन में आघात पहुँचाते हैं। इस आघात से उत्पन्न विह्वलता अभिव्यक्ति से ही संतुलित होती है। “किसी कवि ने कहा है फीलिंग इज़ द ग्रेट सफरिंग। ऐसे ही तमाम संवेदनशील कवियों की कविताओं के दर्द को केन्द्रीय स्वर माननेवाली पंक्तियाँ मिल जाएंगी। तो बात यह है कि सच्चा लेखक अत्यंत संवेदनशील होता है और वह निजी दर्द तो वहन करता ही है तमाम लोगों के दर्द के साथ हो लेता है। यानी रचना करने से पहले ही वह पीड़ा भरे कथ्य की यातना झेलने लगता है। दूसरों का दर्द उसकी अपना दर्द बन कर उसे मथने लगता है। तब तक मथता है जब तक वह उसे रचनात्मक अभिव्यक्ति नहीं दे लेता।”¹

साधारणतः कलाकार निजी अनुभव के साथ सामाजिक यथार्थ से भी व्याकुल होता है। तब यह सामाजिक यथार्थ उनका अपना ही अनुभव बन जाता है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ रचना में प्रतिफलित हो जाता है। यह परिवेश जो है निरंतर गतिशील प्रक्रिया से गुज़रता है। यह ठहरे हुए जल की तरह ऊपरी भाग स्वच्छ और भीतर-भीतर सक्रिय रहता है। साधारण जनता इसे पहचानने में कामयाब न होते हैं। कलाकार दीर्घदर्शी है वह अपने तीसरी नेत्र से इसे सहीक पहचान लेते हैं और सहृदय होने के कारण समाज का पथ प्रदर्शन के लिए लालायित होते हैं। सामाजिक जागरण उनका लक्ष्य बन जाते

¹ डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ, रचना धर्मिता और मूल्यबोध, पृ : 43

है। प्रसिद्ध तमिल साहित्यकार अखिलन का मंतव्य इसके साथ जोड़कर देखे – “आम जनता और उनसे जुड़ी हुई समस्याओं में मुझे रुची है। कुछ समस्याएँ वैयक्तिक भावनाओं से संबंधित हैं और कुछ समस्याओं के राजनीतिक और आर्थिक आधार भी होते हैं। इस प्रकार की समस्याएँ मुझे सजग बनाती हैं। मैं उनके बारे में सोच-विचार करता हूँ और साहित्य सृजन के माध्यम से उनपर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता हूँ। कुछ करने की बलवती इच्छा मुझे लिखने को मजबूर करती है। --- चारों ओर बिखरे पड़े लोग ही मेरा प्रधान प्रेरणा-श्रोत हैं। उसमें मेरे प्यार और नफरत के लोग शामिल हैं। इन लोगों से जुड़ी हुई सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वास्तविकताएँ और वर्तमान समाज की विद्रूपताएँ भी उनके अन्तर्गत आती हैं।”¹

परिवेश से प्राप्त अनुभव की अनुभूति हर एक कलाकार में भिन्न-भिन्न होती है। इनकी तीव्रता और तीव्रता भी कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर रहता है। उनकी अभिव्यक्ति में भी यही पृथकता देखी जा सकती है। यह कलाकार की संवेदना और निरीक्षण क्षमता पर निक्षिप्त है। उदाहरण के लिए कहे तो युद्ध की विभीषिका कलाकार में तरह-तरह की संवेदना उत्पन्न करते हैं। किसी को इससे उत्पन्न अस्तित्व बोध से, किसी को युद्ध में भागीदार योद्धा के परिवार की वेदना से, रणभूमि की दारुण स्थिति से, सत्ता की निरंकुशी नीति से और किसी को इससे नष्ट हुए सांस्कृतिक

¹ अखिलन, आजकल मई 1983, पृ : 24

मूल्यबोध से संवेदना उभरती है, यहाँ युद्ध प्रेरक शक्ति है संवेदनाएँ तरह तरह की होती हैं। अभिव्यक्ति भी विभिन्न प्रकार की होगी। लेकिन इसमें निहित लक्ष्य अक्सर एक ही होगा जन-जागरण।

इन सब से भिन्न कलाकार की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ भी कला के लिए प्रेरक बनती हैं। उनकी वेदना, प्रेम-भावना, भय, द्वेष आदि इस पर आते हैं। सृजन से उत्पन्न आनंद भी अक्सर कलाकारों की प्रेरणा है। इसके संबंध में कवि सुमित्रानन्दन पंत का कथन देखे तो “चाहे साहित्यकार हो या मूर्तिकार अथवा कुम्हार वह लिखने, चित्र बनाने, कठोर पत्थर में प्रतिमा अंकित कर उसे मानवीय संवेदना से विद्वित करने में अथवा चाक में अरूप मिट्टी को अनेक आकार प्रकारों में सँवारने में जिस सुख तथा तन्मयता का अनुभव करता है वह निश्चय ही अनिवर्चनीय है। जो आत्मविस्मृति सृजन क्रिया द्वारा सुलभ होती है वह किसी अन्य रूप से प्राप्त करना संभव नहीं है। सृजन प्रवृत्ति मनुष्य को पूर्ण रूपेण समाधिस्थ कर देती है, वह मन प्राण, भाव बुद्धि, कर्म तथा आत्मिक एकाग्रता की समाधि होती। जिसके रूपहले एकांत से मनुष्य सूक्ष्म शक्ति संचय कर अपनी कृति को अलौकिक सौन्दर्य आनंद तथा जीवंत पूर्णता से मंडित करता है। मनुष्य तथा अन्य जीव अज्ञेय सृजन शक्ति के प्रतिनिधि है इसीसे वे सर्जना के लिए बार-बार अदृश्य रूप से प्रेरित होते रहते हैं।”¹

¹ सुमित्रानन्दन पंत, साठ और अन्य निबंध, पृ : 100

कलाकार होने के नाते कला के प्रति उनके दृष्टिकोण भी सृजन की प्रेरक शक्ति बनते हैं। कला के प्रति अदम्य इच्छा, समर्पण मनोभाव, लगाव आदि इस धरातल पर आते हैं।

नाटक और उपन्यास में अभिव्यक्त कलाकार की सृजन – प्रेरणा

रचना रचनाकार की भट्टी में पिघलकर निकलती है। इसलिए उसमें अनुभूति की चमक होती है और इसलिए वह नई भी होती है। कुछ अनुभूति का विषय नहीं बन सका वह साहित्य की सीमा के अंतर्गत नहीं आता क्योंकि अनुभूति में ही यह शक्ति निहित है कि वह मनुष्य के मर्म का स्पर्श करे और उसकी संवेदना का विस्तार करे जो साहित्य का स्वीकृत धर्म है। साहित्य की सार्थकता यह है कि वह अनास्था, घुटन, संत्रास, ऊब और उदासी के बीच टूटते हुए जीवन को शक्ति दे, जीवन और मनुष्य में दिलचस्पी उत्पन्न कर सके कि हम अधिक ललक के साथ उससे लिपट सके और अधिक गहराई के साथ उसका अर्थ ढूँढ़ सकें। रचना भी एक हथियार है। संसार के बड़े-बड़े साहित्यकारों ने इस हथियार का इस्तेमाल किया है और निश्चय ही उन्हें कलम की धार से बहुत सारी रूढ़ियों और सत्ता के जंग को खुरचने में सफलता भी मिली है। रचना की लड़ाई बड़ी और महत्वपूर्ण लड़ाई है। सच्चे साहित्यकार के भीतर हमेशा एक तीखी बेचैनी होती है, जो सही रूप से बाहर आना चाहती है।¹

¹ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रचना के सरोकार, पृ : 20

साहित्यकार अपने निजी और परिवेश से अपना संवेदनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से करते हैं। यहाँ उनके अस्त्र बनते हैं शब्द। कभी-कभी साहित्यकार निजी समस्याओं एवं अपने वर्तमान समाज को अभिव्यक्त करने के लिए युगीन संदर्भों और पौराणिक चरित्रों का सहारा लेता है; यह इसीलिए है कि लोग युगीन संदर्भों और इन पात्रों से परिचित हैं और इसे प्रतीक बनाने से अपना उद्देश्य उनके समक्ष सीधे पहुँचेंगे और सशक्त रहेंगे। कलाकार अपने व्यक्तित्व का ही नहीं पूरे कलाकार वर्ग का और उनके परिवेश का प्रक्षेपण इन प्रतीकों के ज़रिए करते हैं, जो सामान्य एक ही धरातल का होता है। तुलसी दास के जीवन पर आधारित उपन्यास 'मानस का हंस' के संदर्भ में डॉ. शम्भुनाथ चतुर्वेदी ने इस प्रकार प्रस्तावित किया है कि – “मानस का हंस नागर जी की एक ऐसी कथा कृति है, जो टालस्टाय, जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वूल्फ, मैक्सिम गोर्की, प्रूत्स, प्रमथनाथ विशी, विमल मित्र और प्रेमचंद, सबकी भाषिक और संवेदनात्मक विशेषताओं को समाहित हुए है।”¹

रचनाओं में अभिव्यक्त कलाकार का संघर्ष, संवेदना और अभिव्यक्ति की प्रेरणाएँ जो हैं, वह स्वयं उनका ही नहीं रचनाकार का और संपूर्ण कलाकार वर्ग का है। कलाकार के जीवन पर आधारित 'छाया' (हरिकृष्ण प्रेमी) नाटक के वक्तव्य में स्वयं हरिकृष्ण प्रेमी ऐसे कहते हैं “छाया पर

¹ डॉ. शम्भुनाथ चतुर्वेदी, आजकल जून 1983, पृ: 8

प्रकाश डालते समय मुझे बहुत संकोच हो रहा है। यह नाटक मेरे प्राणों को फोड़कर अपने-आप प्रकट हो गया है। हमारे देश के गरीब साहित्यकों के स्वाभिमान के अंतःपुरों को कौन देखता है? मैं ने जो तस्वीर खींच दी हैं, वह समाज, राष्ट्र और विश्व के सृष्टा, निर्माता, पथ-प्रदर्शकों के प्रति समाज की सहानुभूति पा सकेगी, इसका मुझे विश्वास नहीं। साहित्य-सेवा के प्रति समाज अपने कर्तव्य को न जाने कब समझेगा?

संसार के सामने साहित्य-सृष्टा के अंतःपुर की तस्वीर रखना, एक तरह से उसे लज्जित करना है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह नाटक लिखकर जैसे मैं ने अपना ही अपमान किया है। किंतु मैं क्या करूँ? मेरे हृदय में बहुत धुँआ जमा हो गया है। उसे रास्ता तो देना ही होगा। छाया में भी मेरे हृदय का एक अंश ही आ पाया है। पिछले 5 वर्षों में संसार में मुझे बहुत कुछ दिया है, मुझे वह सब वापस भी तो करना है।¹

इस से स्पष्ट होता है कि नाटक का नायक प्रकाश के आर्थिक एवं सामाजिक संघर्ष स्वयं रचनाकार और कलाकार वर्ग का संघर्ष है। उनके द्वारा भोगी हुई या भोग रही समस्याएँ ही इसका मूल विषय है।

‘अभंग गाथा’ नाटक के वक्तव्य में नरेन्द्र मोहन ने भी इस नाटक की रचना से सम्बंधित प्रेरणा पर सविस्तार से प्रस्तावित किया है – “ठीक-ठीक

¹ हरिकृष्ण प्रेमी, छाया, भूमिका

कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि – मैं इस नाटक को लिखने में क्यों प्रवृत्त हुआ? हाँ यह ठीक है कि – तुकाराम के संतापों और संघर्षों, उनकी सृजनात्मक आकुलाहट और छटपटाहट के धरातलों से मैं बार-बार मथा जाता रहा। मुझे लगता है कोई है जो मुझे उनकी तरफ धकेल रहा है। वह कौन है, मुझे पता न चलता। कभी लगता मेरा प्रतिरूप है, कभी लगता कोई सिरफिरा है।”¹

प्रेम

समस्त कला-सृजन के मूल में कलाकार की दमित और कुंठित काम वृत्तियों की सत्ता होती है। व्यक्ति के जीवन की प्रेरणाओं का उद्गम उसकी अवचेतन में दबी इन्ही दमित एवं कुंठित काम वृत्तियों की सत्ता है। अपनी जिन इच्छाओं को वह समय के भय से तथा अन्य वर्जनाओं के कारण अभिव्यक्त नहीं कर पाता, वे सब उसके अवचेतन अथवा अचेतन मन में एकत्र होती रहती हैं। कलाकार इसे कला के माध्यम से उदात्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। ऐसा फ्रायडीयन सिद्धांत को प्रबल बनाने वाला कलाकार है, कोणार्क का विशु।

विशु एक असफल और कायर प्रेमी है। अपनी प्रेयसी सारिका को गर्भवती जानकार लोकलाज के भय से घर-परिवेश छोड़कर भाग खड़ा

¹ नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, वक्तव्य

होता है। फिर श्रीधर नामक अपना नाम बदलकर शिल्पी विशु बन जाता है। कला के आँचल में अपनी कायरता छिपाते है। विशु छली और कायर सिद्ध होता है, लेकिन प्रेमी एक निष्ठ रहता है। उसके जीवन में सिर्फ सारिका ही रही। कोणार्क मंदिर की शिल्प-साधना के पीछे उनके सत्रह साल के भग्न प्रेम की वेदना और दमित वासनाओं का विस्फोट ही था। यह सौम्य के शब्दों में - “कैसी विडंबना है विशु कि तुम्हारी टूटी हुई रागिनी का विषाद ही तुम्हारी चमत्कार पूर्ण कला का वैभव बना।”¹ अपनी सारिका की याद और अपने गर्भस्थ-शिशु की स्मृति में शिल्पी एक से एक मंदिर, एक से एक मूर्तियाँ गढ़ता चला जाता है। हर नया मंदिर जो वह बनाता था मानों उसकी वेदना, विवशता, कायरता और उसके विरह की साकार अभिव्यक्ति बन जाता है। फ्रायडीयन मनोविश्लेषण के अनुसार कोणार्क विशु की काम भावना (प्रेम) का उदात्तीकरण है।² सारिका के प्रति प्रेम भावना विशु के भीतर सदैव बजती रही थी, इसलिए ही उसकी कला-साधना में मानवीय प्रेम की सहज अभिव्यक्ति गूँजती रही थी।

कोणार्क की भाँती एक भग्न प्रेम की कथा कहने वाला माथुर का ओर एक नाटक है -‘शारदीया’। शारदीया की रचना के पीछे काम करने वाली अपनी मानसिकता पर प्रकाश डालते हुए नाटककार ने प्राक्कथन में कहा है

¹ जगदीशचन्द्र माथुर, कोणार्क, पृ : 28

² डॉ गणेश दत्त गौड़, आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ : 354

कि –“कुछ वर्ष हुए मुझे नागपुर म्यूज़ियम में एक असाधारण वस्त्र देखने को मिला। उसकी लम्बाई पाँच गज से अधिक यानी एक साडी बराबर है। किंतु वजन उसका केवल पाँच तोला है। धवल रंग की इस साडी में कुछ ऐसी आभा है जो आज कल के वस्त्रों में मुश्किल से पाई जाती है। --- इस साडी या वस्त्र को ग्वालियर किले के एक तहखाने में बना गया और इतनी बारीक बुनाई के लिए बुनकर ने अपने अंगूठे के भीतरी नाखून में सूराख कर लिया था ताकि वह ढरकी यानी शटल का काम दे सके। ---- बुनने वाला व्यक्ति राष्ट्रद्रोह के अपराध में दौलतराव सिंधिया की आज्ञा से सन, 1795 ई. में खर्दा के उस इतिहास प्रसिद्ध युद्ध में बंदी बना लिया गया था। ---- मन और तन को अँधेरे और घुटन के बंधन में जकड़ने वाले उस कारागार में इस कलाकार बंदी को किस अजय सौन्दर्य से प्रेरणा के विरामहीन घूंट मिले – इस प्रश्न ने मेरी कल्पना को उत्तेजित किया और तभी नरसिंह राव और उसकी प्रेयसी की काल्पनिक मूर्तियाँ साकार हो गयी----।”¹

नरसिंह राव और बायजा बाई का प्रेम इस नाटक की आत्मा है। भग्न प्रेम के अवशेषों को लेकर भीतर ही भीतर सुलगते रहने वाला प्रेम इस नाटक की मुख्य वस्तु है। नरसिंह राव और बायजा बाई के बीच के प्रेम में असंतुष्ट बायजा के पिता षड्यंत्र करके देश द्रोह का आरोप लगाकर नरसिंह राव को बंदी बनाते हैं। इस षड्यंत्र से अनभिज्ञ नरसिंह राव अपने लम्बे

¹ जगदीशचन्द्र माथुर, शारदीया, प्राक्कथन, पृ : 5-7

कारावास का, अपनी शारदीया के नाम पर सार्थक रूप से उपयोग करने का तय करता है और जिनसेवाले से अनुरोध करता है कि – हैदराबाद से वे पंचतौलिया बुनने वाला एक करघा मंगा दे। शारदीया के लिए एक अनुपम उपहार बुनता, इस तरह कारागार के कुछ काले वर्ष व्यतीत करना यही उनका लक्ष्य बन जाता है – “मैं अँधेरे की ज़िन्दगी में उजाले का ताना-बाना बुँगा शारदीया के लिए ----- जब तक ज़िन्दा हूँ तब तक बुनता रहूँगा, रूपहले और सुनहले पल्ले। हवा सी हलकी, कुसुम सी कोमल चाँदनी-सी भीनी, शारदीया – वही तो असली चाँदनी है। मेरी काल कोठरी में उसी की ज्योति बसेगी, शारदीया की ज्योति।”¹

सारी विषम परिस्थितियों में नरसिंह राव अन्तर्द्वंद को झेलता है, वह कारावास में बायजा बाई के वियोग में मर्मन्तिक पीड़ा को झेलता है पर समरसता की अपूर्व स्थिति में अपनी पीड़ा का उदात्तीकरण कर लेता है। उसका अभुक्त प्रेम ही उसके जीवन का पाथेय बनता है।”²

इस प्रकार वह एक मामूली पंचतौलिया साड़ी बुनते हैं, अपनी प्रेमिका के लिए। यहाँ नरसिंह राव नामक योद्धा का कलाकार बनना और सुन्दर रचना का सृजन करने के भीतर की प्रेरणा शक्ति अवश्य ही उनके

¹ जगदीशचन्द्र माथुर, शारदीया, पृ : 85-86

² गोविन्द चातक, नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर, पृ : 48

‘अमूर्त प्रेम’ था। काराग्रह के एकांत, विह्वल वातावरण में भी सुन्दर से सुन्दर, मामूली उपहार – पंचतोलिया साड़ी बुनने की उनकी मंशा शारदीया के प्रति उसके असीम प्रेम को व्यक्त करता है। साड़ी बुनने का एक-एक क्षण शारदीया की स्मृतियों से गुज़रता है। यही उनकी साधना की प्रेरक शक्ति ठहरती है।

कोणार्क और शारदीया, कलाकार की दमित वासना से उत्पन्न अभौम कला सृष्टि की कथा कहने वाले नाटक हैं। यहाँ नाटककार का उद्देश्य भी यह कहना था कि – श्रेष्ठ कला, कलाकार की दमित वासनाओं का प्रतिफलन है। प्रसिद्ध नाट्यसमीक्षक नरनारायण की राय में कोणार्क और शारदीया का जन्म विरह में ही संभव हो पाया। विरह के तल्लीनता पूर्ण भाव दशा में दो कलाकारों ने किस प्रकार श्रेष्ठ कला को जन्म दिया इस की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं ---“नरसिंह अप्रत्याशित रूप से अँधेरे कमरे में पंचतोलिया साड़ी का पल्ला अपनी प्रेयसी के लिए बुन पाया जो अपने आप में श्रेष्ठ कलाकृति का उदाहरण है। कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन का प्रसंग कोणार्क में आया है। सत्रह वर्षों के प्रेयसी के वियोग की अंतर्ज्वाला में प्रतिपल प्रतिक्षण दग्ध होता हुआ श्रीधर (महाशिल्पी) उसी राशिभूत प्रेम की शक्ति से भुवनेश्वर में अनेक मंदिरों का शिल्प प्रस्तुत करने के बाद कोणार्क, सूर्य मंदिर की विराट कल्पना को कलात्मक श्रेष्ठताओं के साथ ही अभिव्यक्ति दे पाया। यह वास्तविकता कि – कोणार्क विशु ने बनाया, हमेशा चिंतित

रहेगी। पता नहीं किसने बनाया। लेकिन माथुर जी अपने इन नाटकों की इस समान अवधारणा के माध्यम से कलाकार के उस सत्य को अभिव्यक्त करते हैं कि श्रेष्ठ कला, कलाकार के शाश्वत अंतर्दहन की व्यक्त अभिव्यक्ति है।”¹

नारी

हर एक पुरुष की उन्नति के पीछे एक स्त्री की प्रेरणा अवश्य होगी। यह कलाकार के जीवन में भी कभी-कभी सार्थक बनता है। स्त्री यहाँ माता, बहन, पत्नी, प्रेमिका, साथी कई ढंग से उपस्थित होती है। उनका निस्वार्थ योगदान कलाकार को कला सृजन के लिए प्रेरक बन जाता है। इसका एक सशक्त मिसाल है – आषाढ का एक दिन की मल्लिका।

आषाढ का एक दिन नाटक में मल्लिका और कवि कालिदास के बीच में भावात्मक संबंध है। कालिदास उन्मुक्त प्रकृति की गोद में पले हुए भावुक कवि है। यह ग्राम्य वातावरण, ग्राम्य जीवन में पली सीधी सादी भावुक युवती मल्लिका के साथ भावात्मक संबंध आदि वह पसन्द करते हैं। फिर भी अभाव के कारण मल्लिका से विवाह करना न चाहता है। मल्लिका, कालिदास की भलाई के लिए इच्छुक, निस्वार्थी व्यक्तित्व है। सामाजिक अपवाद झेलने पर भी, वह कालिदास से शादी के लिए दबाव डालना, उनकी स्वस्थ मनोभूमि में विघ्न डालना नहीं चाहती है। “मैं जानती हूँ माँ,

¹ डॉ. नरनारायण राय, जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्य सृष्टि, पृ : 100-101

अपवाद होता है। तुम्हारे दुःख की बात भी जानती हूँ। फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैं ने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह संबंध और सब संबंधों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ, जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है।”¹ भावना में मल्लिका ने जिस भावना का वरण किया है, वह भावना कालिदास है। कालिदास से वह निस्वार्थ प्रेम करती है। इस भावात्मक संबंध द्वारा वह कालिदास पर सृजन शक्ति पर प्रेरणा भरना चाहती है, न उस पर विघ्न डालना। वह कालिदास के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए स्वयं समर्पित करती है। कालिदास की अलौकिक प्रतिभा के विकास में कहीं एक अनुदान बनने में वह अपने को सार्थक समझती है। मल्लिका के संबंध में प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नेमिचंद्र जैन यों कहता है “एक ऐसी समर्पित नारी की नियति का चित्र जो कवि से अटूट प्रेम ही नहीं करती, किसी भी मूल्य पर उसे महान होते देखना चाहती है।”²

मल्लिका की यह निस्वार्थ भावना ही कालिदास को उज्जयिनी के राजकवि का पद स्वीकार करने के लिए प्रेरक बनता है। कालिदास के चले जाने पर मल्लिका आंतरिक स्तर पर संतप्त हो जाती है। मन में एक प्रकार की शून्यता अनुभव करती है। फिर भी वह अपने संकल्प से विचलित नहीं होती है। वह उज्जयिनी कालिदास की पल-पल बढ़ती कीर्ति से संतुष्ट होती

¹ मोहन राकेश, आषाढ का एक दिन, पृ : 13

² नेमिचंद्र जैन, आलोचना, जुलाई-सितंबर 1967, पृ : 96

है – “मुझे प्रसन्नता है कि – वे वहाँ रहकर इतने व्यस्त है। यहाँ उन्होंने केवल ‘ऋतु संहार’ की रचना की है। वहाँ उन्होंने कई नए काव्यों की रचना की है। दो वर्ष पहले जो व्यवसायी आये थे, उन्होंने ‘कुमारसंभव’ और ‘मेघदूत’ की प्रतियाँ मुझे ला दी थी। बता रहे थे, उनके एक और बड़े काव्य की बहुत चर्चा है, परंतु उसकी प्रति उन्हें नहीं मिल पायी।”¹ इन शब्दों में कालिदास और उनकी कलात्मकता पर उनकी उत्सुकता व्यक्त होती है। लेकिन कालिदास उज्जयिनी जाकर राजकवि होने के साथ-साथ वहाँ की राज दुहिता से विवाह करते है और फिर राजपद भी स्वीकार करके आत्म सम्मान की ज़िन्दगी जीते है। लेकिन इतनी सारी सुख-सुविधाओं के बीच रहकर भी वह जिन नाटकों की रचना करते है, इनकी प्रेरक शक्ति बन जाती है – वह ग्राम प्रांत और उस सीधी सादी मल्लिका। यह स्वयं कालिदास द्वारा व्यक्त होता है – “लोग सोचते है मैं ने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत कुछ लिखा है। परंतु मैं जानता हूँ कि मैं ने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। कुमारसंभव की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो। मेघदूत के यक्ष की पीड़ा, मेरी पीड़ा है और विरह विमर्दिता यक्षिणी तुम हो – यद्यपि मैं ने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें नगर में देखने की कल्पना की। अभिज्ञान शाकुंतल में शकुन्तला के रूप में तुम्ही मेरे सामने थी। मैं ने जब

¹ मोहन राकेश, आषाढ का एक दिन, पृ : 51

जब लिखने का प्रयत्न किया, तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर फिर दोहराया। और जब उससे हट कर लिखना चाहा, तो रचना प्राणवान नहीं हुई। 'रघुवंश' में अज का विलाप मेरी ही वेदना की है।¹

मल्लिका और मल्लिका के साथ भावात्मक संबंध कलाकार कालिदास के लिए कितना प्रेरक था यह इन शब्दों में व्यक्त होता है।

कलाकार की सृजनात्मकता में प्रेरक शक्ति ठहरने वाली ओर एक नारी चरित्र है कठपुतली उपन्यास का दीपाली। दीपाली अंग्रेज़ी साहित्य में नाटक पर शोध करने वाली शोध छात्रा है। उसकी भेंट 'मिट्टी की मूरत' नाटक की रचयिता सुनील से होती है, जो बचपन में रासधारी बनने की आशा से घर देश छोड़ते हुए बारह साल तक घूमते फिरते रहे थे। कला के प्रति अदम्य इच्छुक होकर भी वह इस क्षेत्र में प्रतिष्ठित न होता है। दीपाली के सहयोग से सुनील को सचमुच एक नया जीवन प्राप्त होता है। दीपाली ने उसे उन गहराईयों से परिचित कराया जिनमें उतरे बिना एक सच्चे कलाकार की कला आगे नहीं बढ़ सकती। उनकी प्रेरणा से फिर सुनील और अधिक नाटकों का सृजन करके इसे रंगमंच में प्रस्तुत करते हैं। सुनील नामक कलाकार को कला जगत में निर्भीक होकर पैर लगवाने के लिए एक साथी के रूप में दीपाली प्रेरणा देती है। स्वयं सुनील के विचार में – “दीपाली है तो बड़ी गंभीर लड़की, बड़ी सूझ-बूझ रखती है। वह तो 'मिट्टी की मूरत' की

¹ मोहन राकेश, आषाढ का एक दिन, पृ : 102

जान है। उसके बिना 'मिट्टी की मूरत' मूरत ही नहीं रहती है। यह लड़की तो सचमुच 'मिट्टी की मूरत' में जान डाल के ही रहेंगी।"¹

आषाढ का एक दिन और कठपुतली इन दोनों रचनाओं में नारी कलाकार की सृजन साधना में निस्वार्थ रूप से प्रेरणा देती है। यह सामान्यतः नारी का सहज स्वभाव है। अपने प्रियजन के लिए सर्वस्व अर्पित करने का मन, नारी में ही दिखाई जा सकता है। 'हानूश' नाटक में 'कात्या' हानूश की कला सृजन करने की अदम्य इच्छा को पहचानती है। वह समझदार है लेकिन परिवार के कटु आर्थिक संकट ही उन्हें हानूश से शिकायत करने के लिए प्रेरित करती है। 'मुझसे पूछो तो तुम्हारा ब्याह करना ही भूल थी' यह उनकी व्यंग्य बाण नहीं था, उनकी समझदार हृदय से निकला वाक्य थे।

'छाया' नाटक में साहित्यकार प्रकाश की पत्नी छाया कटु आर्थिक तंगी, समाज द्वारा अपमान इत्यादि में भी अपने पति पर विश्वास रखती है। वह अपने पति के कला हृदय को सही रूप से समझ लेती है। इसलिए वह स्वयं उनके रास्ते में काँटे बनना न चाहती है, बल्कि रास्ते में पड़े काँटें निकालना चाहती है। "संसार ने कवि से उनका धन छीना, उसकी पत्नी छीननी चाही, उसकी पुत्री छीननी चाही, उसका यश छीनना चाहा, उसकी प्रतिभा छीननी चाही, किंतु प्रियतम (प्रकाश के चरणों में बैठकर) आपकी

¹ देवेन्द्र सत्यार्थी, कठपुतली, पृ : 57

छाया सदा आपके साथ रहकर आपके रास्ते के काँटें बीनेगी। सदा आपके हृदय में आशा का दीपक जलायेगी, बल्कि स्वयं दीपक बनकर आपका पथ आलोकित करेगी छाया मिटे तो मिट जाय लेकिन प्रकाश अमर रहे।”¹

ये नारियाँ सच्चे अर्थ में कलाकार के प्रेरणा स्रोत हैं।

अदम्य इच्छा

बाहरी प्रेरणाओं की अपेक्षा कलाकार के मन में अंतर्निहित प्रेरणाएँ ही उन्हें कला-साधना के लिए अधिक सहायक बनती हैं। कला के प्रति अदम्य इच्छा इस कोटी की है। मन में अदम्य इच्छा है तो किसी भी मुसीबतों से बाहर निकलना आसान होता है। सच्चे कलाकार में यह गुण निहित होता है, यही उन्हें कला सृजन के लिए प्रेरक बनाते हैं।

भीष्म साहनी का ‘हानूश’ नाटक के हानूश में यह गुण दिखाई देता है। हानूश एक कुफलसाज़ है, ताला बनाना ही उनका जीविकोपार्जन है। लेकिन हानूश इस काम में मन न लगाकर एक विशेष प्रकार की घड़ी बनाने के प्रयास में लगे रहते हैं। पारिवारिक, आर्थिक एवं बाहरी दवाबों की भीषण स्थिति में भी उनके मन में घड़ी बनाने की इच्छा जारी रहती है। अपने जीवन के सत्रह साल यानी यौवन का भरपूर समय वह इस घड़ी के निर्माण में बिताता है। इसी बीच बाहरी दबाव में संत्रस्त होकर कभी कभी वह घड़ी बनाने के काम रास्ते में छोड़ते हैं, लेकिन तुरंत ही इन्हीं रास्ते की ओर

¹ हरिकृष्ण प्रेमी, छाया, पृ : 80

आ जाते हैं। भीषण परिस्थिति उन्हें पीछे की ओर खींचता है लेकिन कला के प्रति अदम्य इच्छा आगे बढ़ाते हैं। यह उनका दोस्त लोहार समझ लेता है। उनके शब्दों में – “यह फिकरा भी मैं सौ बार सुन चुका हूँ। सुन हानूश, तू यह काम छोड़ नहीं सकता। यह झिक-झिक भी सदा चलती रहेगी। सोमवार को कहोगे घड़ी बनाना छोड़ दिया, मंगल को भागे मेरे पास आओगे, कमाना में कितना लोहा, कितना पीतल लगेगा।”¹ लोहार को पूर्ण विश्वास था कि – हानूश के लिए यह काम छोड़ना असंभव है क्योंकि यह उनकी आत्मा में जुड़ गयी है। हानूश और बूढ़े लोहार के वार्तालाप से हानूश की लगन, गंभीरता, तल्लीनता, आत्मसम्मान विवशता और विपरीत परिस्थितियों के बावजूद एक सच्चे कलाकार की दुर्दमनीय सिसृच्छा से हमारा साक्षात्कार होता है।²

जब हानूश अपने सृजन में कामयाब होते हैं तब वहाँ के राजा सम्मान देने के साथ स्वार्थपरता से उनकी दोनों आँखें निकाल भी लेते हैं, क्योंकि इस तरह की अन्य घड़ी न बनवायी जाय। यह घटना हानूश के संवेदनशील हृदय में चोट पहुँचाती है। लेकिन वह सत्ता के सामने अपनी सृजनेच्छा को सृजन शक्ति को दबाकर रहना न चाहता है। वह अपने शिष्य जेकब को घड़ी बनाने का सूत्र सिखाकर शहर के बाहर भेजते हैं। इससे उनके मन की

¹ भीष्म साहनी, हानूश, पृ: 44

² जयदेव तनेजा, हिन्दी नाटक आजकल, पृ: 82

अदम्य इच्छा की विजय होती है। किसी भी कीमत पर रचना प्रक्रिया को गतिमान बनाने का प्रयत्न कामयाब होता है। गिरीश रस्तोगी के अनुसार “कलाकार की मौत भले ही हो जाए, उसकी सृजन-शक्ति, सामान्य मानव की आंतरिक शक्ति नहीं मर सकती। अंत में कहे गए हानूश के शब्द – ‘घड़ी कभी बंद नहीं होंगी’ – इस सत्य का संकेत कर जाते हैं।”¹

आठवाँ सर्ग के कालिदास भी इस प्रकार कला सृजन की अदम्य इच्छा अपने मन में समेटे कलाकार हैं। राजनीतिक एवं धार्मिक शक्तियों द्वारा अपनी रचना पर प्रतिबंध लगाने पर भी वह और एक रचना द्वारा जनसम्मत प्राप्त करके अपनी सृजन शक्ति की विराटता प्रकट करते हैं।

‘मुझे चाँद चाहिए’ उपन्यास में हर्ष कला को पैशन समझने वाला कलाकार है। जो रंगमंच से फिल्म के क्षेत्र में कार्यरत होते हैं। लेकिन रंगीन एवं व्यावसायिक फिल्म में कार्यरत होकर यश और धन कमाना वह न चाहता है। इसलिए इस क्षेत्र में उनका योगदान अनदेखा रह जाता है। वह मूलतः उच्चवर्गीय व्यावसायिक परिवार के हैं। परिवार वाले इन्हें कलाकार के रूप में सीमित देखना नहीं चाहते हैं। इसलिए उस पर किसी बिज़िनेस करके ज़िन्दगी संभालने का दबाव डालते हैं। लेकिन हर्ष अपनी कला साधना को छोड़ना नहीं चाहता है। - “मम्मी एक्टिंग छोड़ने के लिए मत

¹ गिरीश रस्तोगी, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, पृ : 236

कहो। यह सिर्फ मेरी रोज़ी ही नहीं, मेरा पैशन भी है। मैं अपना सर्वश्रेष्ठ सिर्फ इसी क्षेत्र में दे सकता हूँ। इसके अलावा मैं तुम्हारी हर बात मान लूँगा।”¹ इन वाक्यों में एक सच्चे कलाकार की वास्तविक मनोभूमि की बुलन्द परवाज़ी व्यक्त होती है।

समर्पण

कला संपूर्ण समर्पण चाहती है। कला के प्रति पूर्ण समर्पण के साथ जीना ही सच्ची सृजनात्मकता का द्वार है। यह समर्पण मनोभाव ही कलाकार को आगे की ओर जाने की हिम्मत और प्रेरणा देती है।

कला-साधना के लिए सब-कुछ सौंप देने का भाव ‘मुझे चाँद चाहिए’ उपन्यास की नायिका वर्षा वशिष्ठ में दिखाई देता है। वर्षा अपनी कलात्मक जीवन को सर्वस्व समझती है। इस जीवन में ही उसने अपने अस्तित्व को पहचान लिया था। इसलिए कला जगत में पूर्ण समर्पण के साथ जीना वह अपने जीवन की सार्थकता समझती है। एक मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार में जन्मी वर्षा भीषण पारिवारिक संघर्ष को झेलते हुए रंगमंचीय जीवन से अपना नाता जोड़ती है। एक स्त्री होते हुए भी इसी के कारण उमड़े सारे के सारे बाहरी संघर्षों का सामने करते हुए वह कला-जगत में अटल रहती है। कला के प्रति लगाव रहने के कारण वह अपने को वैवाहिक बंधन में बाँधना भी नहीं चाहती है। - “मैं स्कूल नहीं छोड़ूंगी और ब्याह नहीं करूँगी। इसके

¹ सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चाँद चाहिए, पृ : 240

अलावा आप जो चाहे हुकुम देकर देख ले। --- आप कहे, दूसरी मंज़िल से नीचे कूद जाओ। आपके चरणों की सौगंध, मैं अभी कूद जाऊँगी।”¹ जीजाई से हुई यह वार्तालाप, वह कला के प्रति कितनी समर्पित है, इसका इशारा देता है।

समर्पण मनोभाव ही उन्हें शाहंजहाँपुर से लखनऊ, दिल्ली तथा मुंबई के कलागत ऊँचाईयों में ले जाते हैं। यही उन्हें सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार, पद्मश्री पद आदि से प्रतिष्ठित होने की कारक शक्ति देती है। इस मनोभाव की अदृश्य शक्ति ही उन्हें विघ्नों को काटने की प्रेरणा देती है। विख्यात कवि सुमित्रानन्दन पंत के अनुसार “मनुष्य तथा अन्य जीव अज्ञेय सृजन शक्ति के प्रतिनिधि हैं। इसी से वे सर्जना के लिए बार-बार अदृश्य रूप से प्रेरित होते रहते हैं।”²

जनवादी/सुधारवादी चेतना

सच्चे कलाकार समाज से और सामाजिक अनीतियों से पृथक रहना न चाहते हैं। समाज की आम जनता का जीवन संघर्ष उसमें हमदर्दी उत्पन्न करता है। यह हमदर्दी मूलतः उनकी सृजन प्रेरणा बनती है। वह दूसरों के लिए जीने में अपने जीने को सार्थक समझता है। दूसरों के अस्तित्व की रक्षा और उसकी ऊर्ध्वगामी मानवीय संभावनाओं की चरितार्थता में वह अपनी

¹ सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चाँद चाहिए, पृ : 118

² सुमित्रानन्दन पंत, साठ वर्ष और अन्य निबंध, पृ : 100

चरितार्थता मानता है। इस तरह मानव कल्याण को तहज़ीब देने वाले हर एक कलाकार के सृजन में सुधारवादी चेतना प्रबल रहती है। निर्भीकता उनके व्यक्तित्व की विशेषता है।

कहै कबीर सुनो भाई साधौ, कबिरा खड़ा बाज़ार में, इकतारे की आँख तीनों नाटक कबीर को आधार बनाकर लिखे गए हैं। भीष्म साहनी, मणि मधुकर और नरेन्द्र मोहन तीनों नाटककारों ने नायक के रूप में कबीर को इसीलिए चुन लिया था - वे कबीर के व्यक्तित्व पर आकृष्ट और उसकी प्रवृत्तियों से प्रभावित थे और मध्यकालीन परिवेश और प्रतीक द्वारा खुद अपने ही समाज को जागृत करना उनका लक्ष्य था। 'कहै कबीरा सुनो भाई साधौ' नाटक के वक्तव्य में नरेन्द्र मोहन ऐसे प्रस्तावित करते हैं - "दहाड़ते हुए आतंक की बीच कबीर ने हर खतरा और जोखिम उठाते हुए सच कहने का ही नहीं, सच को जीने और अमल में लाने का साहस किया था। मनुष्य की हालत को बदलने के लिए वे जीवन से बड़े मूल्य की --- सिर दे देने की, शहादत की कल्पना करते हैं और यही इस नाटक का केन्द्रीय स्वर है जिसे आप तक पहुँचाने का प्रयत्न किया गया है। इस स्वर की अनुगूँज मेरे भीतर बराबर उठती रही है, मुझे घेरती और प्रेरित करती रही है यह नाटक लिखने के लिए।"¹

¹सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चाँद चाहिए, पृ : वक्तव्य

समाज विध्वंसात्मक शक्तियों के खिलाफ अपनी प्रतिक्रिया कबीर से कवित्तों के जरिए बाहर निकलते हैं। “मैं ने उनसे कुछ नहीं कहा, पर मुझे एक कवित्त सूझ गया। मैंने खड़े खड़े कवित्त बोल दिया माँ –

दिन भर रोजा रहत है रात हनत है गाय
यह तो खून वह बन्दगी, कैसी खुसी खुदाय।”¹

समाज के सहजीवियों से समभावना और सहानुभूति हरेक सच्चे कलाकार की विशेषता है। यह कबीर में भी निहित था– “मेरा कोई मज़हब नहीं, मेरा किसी मज़हब से विरोध नहीं, मेरे लिए राम-रहीम समान हैं।”² और “माँ यही रहा, बस्ती के लोगों में। कितने दुःखी है वे। उनके दुःख-दर्द सुनता रहा। मेहनत करते हैं तो भी दुःखी। कौन छीन लेता है उनसे मेहनत का फल।”³

आम जनता की विषमताओं के प्रति हमदर्द ‘अभंग गाथा’ के तुकाराम में भी देख सकते हैं। वास्तव में सामाजिक यथार्थ ही उनके अभंगों को वाणी देती थी। “हदें फलाँगकर बेहद होने के लिए आकुल रहता हूँ और दूसरों के दर्द को अपना दर्द मानने के लिए बेबस।”⁴ तुकाराम के इन्हीं शब्दों में उनका व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

¹ भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाज़ार में, पृ : 17

² नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साथी, पृ : 39

³ नरेन्द्र मोहन, कहै कबीर सुनो भाई साथी, पृ : 32

⁴ नरेन्द्र मोहन, अभंग गाथा, पृ : 49

‘सूत्रधार’ के भिखारी ठाकुर को भी अपने परिवेश की शोचनीयता ने सृजन के लिए विवश किया था। समाज की अराजकता के विरुद्ध कुछ करने की अदम्य लालसा उन्हें कला-साधना की ओर प्रेरित करते है। अपने भीतर के सवेदनशील कलाकार व्यक्तित्व को किसी न किसी प्रकार नाई के घेरे से बचा लेने का प्रयास करते है ‘तो क्या यूँ ही ठहलुअई करते बीत जाएगी पूरी उमर? मन में अजीब सी खलल है। इस फंदे से छुटकारा पाए बिना गति नहीं। असहनीय पीड़ा, जैसे अंडे से कोई चूजा निकल आने की जद्दोजहद में है।’¹ उनकी नाच में व्यक्तिगत पीड़ा के साथ-साथ सामाजिक बोध भी बार-बार उभरकर आता है। सामाजिक शोषण के हरेक पहलु को अपनी नाच का विषय बनाने का प्रयास उनके द्वारा हुआ था। इसके द्वारा सामाजिक जागरण ही उनका लक्ष्य था। यह एक हद तक सफल भी निकला।

तिन्दुबुलम नाटक में कवि तिन्दुबुलम सुधारवादी व्यक्तित्व की प्रतिभा है। वह परंपरागत रुढियों को तोड़ना चाहता है। इनके स्थान पर नए मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। उनको गीतों में आदर्शों की गुंजाईश भरी रही। जीवन के प्रति आस्थावान दृष्टिकोण उन्हें कला साधना की ओर प्रेरित करता है। - “जीवन की सार्थकता आस्था में है, आचार्य! मृत्यू से कायर डरते है। मैं ने संघर्षों से घबडाना नहीं सीखा है। उन्होंने ही मुझे

¹ संजीव, सूत्रधार, पृ : 47

कवि बनाया है। वेदनाओं ने ही मुझे रस अनुभूति दी है।”¹ संघर्ष से ही सृजन संभव होता है।

इन कलाकारों में सामाजिक बोध और सामाजिक दायित्व अधिक मात्रा में दिखाई देता है। यही उनकी सृजन-प्रेरणा बनी रही। मुक्तिबोध के शब्दों में : “व्यक्तिगत ईमानदारी वहाँ लक्षित होगी जहाँ वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तुतत्त्व के प्रति सही सही मानसिक प्रतिक्रिया करे। --- भावना का ज्ञानात्मक आधार जब तक वस्तुतः शुद्ध है तभी तक वह भावना फ्राड नहीं है। किंतु ज्ञान का भी निरंतर प्रसार और विकास होता है। चूँकि ज्ञान के क्षेत्र में ही भावना विचरण करती है इसलिए ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक, यथार्थ मूलक और विकसित करने का जो संघर्ष है वह वस्तुतः कलाकार का सच्चा संघर्ष है। यदि कवि या कलाकार वह संघर्ष त्याग देता है तो वह सचमुच ईमानदार नहीं है।”²

निष्कर्ष

सृजन, कलाकार की मानसिक, पारिस्थितिक एवं परिवेशगत अवस्थाओं से संबंध रखते हैं। इन अवस्थाओं के बिना सृजन असंभव है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा कलाकार अपना सृजन की प्रेरणा पाते हैं।

¹ लक्ष्मीकांत वर्मा, तिन्दुवुलम, पृ : 54

² मुक्तिबोध, एक साहित्यिक की डायरी, पृ : 126

उपसंहार



प्रत्येक कला और कलाकार अपने युग की देन होता है। वह अपने युग की बौद्धिक एवं भावात्मक चेतना, सामाजिक एवं राजनीतिक सजगता को लेकर युग संघर्षों का मार्मिक चित्रण दूसरों तक पहुँचाकर सत्य का उद्घाटन करता है और यह अधिकांशतः सत्य और यथार्थ से अनुप्राणित होता है। इस रास्ते में वे सदैव निर्भीक, कला के प्रति समर्पित और ईमानदार दिखाई देते हैं।

इस अध्ययन में चर्चित नाटकों और उपन्यासों में जिन कलाकारों से हमारी भेंट और परिचय होती है, वे अधिकांशतः अपनी कला साधना को जीवन से पृथक करके नहीं देखते हैं। सामाजिक मूल्यों और गतिविधियों से इन कलाकारों का प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध होता है तथा वे अपने सामाजिक दायित्व चुकाने के एक माध्यम के रूप में कला का सहारा लेते हैं। उनकी कला के जन्म और विकास परिवेश से अपनी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अतः वे कला जीवन के लिए के तथाकथित सिद्धांत का समर्थन करने वाले कलाकारों के प्रतीक के रूप में खड़े होते हैं। कबीरदास, तुलसीदास, तुकाराम, तिन्दुवुलम, भिखारी ठाकुर, धर्मपद, मेघनाथ सरीखे कलाकार इस कोटि में आते हैं। ये कलाकार चाहे कवि हो, नाटककार हो, शिल्पी हो या मूर्तिकार सबने भिन्न-भिन्न परिस्थितियों एवं परिवेश से उपजी मानसिक संवेदनाओं से ऊर्जा समाकर अपनी अनुभूतियों को भिन्न-भिन्न ढंग से अभिव्यक्त किया है। अपने युग के बंधनों के बावजूद उन्होंने कला का नाता सीधे जनसाधारण के जीवन से जोड़ा और अपनी कला को

मनोरंजन के रवैये से लोककल्याण की गहरी चेतना की ओर अग्रसर किया। वे कला द्वारा समाज को ऐसी दृष्टि प्रदान करते हैं ताकि लोग समाज में व्याप्त कुरीतियों और पुरातनता के विरुद्ध लड़ सके और उससे मुक्ति पा सके। इन कलाकारों का आत्म संघर्ष मुक्ति का संघर्ष है, जिसमें मानवीय स्वतंत्रता की मुक्तिकामी चेतना भी भरी रहती है। एक कलाकार के संबंध में यह पक्ष बहुत ही मूल्यवान है। मुक्तिकामी चेतना को अपने रग रग में अनुभव करने के कारण कलाकार विशिष्ट नागरिक बन जाता है और विश्वमानवता के प्रतीक पुरुष भी। एक कलाकार तभी मनुष्यधर्मी संवेदना का प्रतीक पुरुष बनता है जब उसमें मनुष्य विरोधी शक्तियों की पहचान हो।

कला कला के लिए मानते हुए कला सृजन में लीन कलाकार के व्यक्तित्व में एक प्रकार की भीरुता दिखाई देती है। कोणार्क का विशु, जीवन यथार्थ का सामना करने के भय से खुद कला साधना में छिपे रहे जैसे महसूस होते हैं। वह अपनी कुंठित वासनाओं को कला द्वारा अभिव्यक्त करते हुए जीवन से पृथक् रहता दिखाई देता है।

कलाकार के समक्ष कला सृजन सर्वोत्तम अनुष्ठान है। उनके व्यक्तित्व और मानसिकता की झलक उनकी कृतियों में दिखाई देती है। परिवेश से प्राप्त प्रेरणाओं और संवेदाओं से सृजन संभव होता है। सृजन के लिए मानसिक तनाव अनिवार्यता आवश्यक दीख पड़ता है। विशु ने अपनी तनाव पूर्ण मानसिकावस्था में ही अनेक मंदिरों का निर्माण किया था।

नरसिंह राव ने अपने काराग्रह के दिनों में विरह की तनावपूर्ण स्थिति में प्रेयसी के लिए मामूली पंचतौलिया साडी बुनी थी। हानूश ने आर्थिक संकट से उत्पन्न भीतरी तनाव में अपनी अदम्य इच्छा से घड़ी का निर्माण किया था। 'आषाढ का एक दिन' में कालिदास ने राजसुविधा के बीच में भी प्रेयसी मल्लिका के वियोग से उत्पन्न तनाव में सर्वश्रेष्ठ कृतियों की रचना की थी। तुलसीदास ने अपनी रोगावस्था की शारीरिक पीड़ा से ग्रस्त होकर मन में उमड़ी काव्य स्फूर्ति से हनुमान बाहुक की रचना की थी।

परिवेश से प्राप्त प्रेरणाओं की प्रतिक्रिया के रूप में कला सृजन संभव होता है। कहीं कहीं यह विद्रोह का रूप भी लेता है। हर निष्ठावान और ईमानदार कलाकार अपने अमानवीय युग सत्य से साक्षात् करता है तो उसके अन्तःकरण से विद्रोह की चिंगारियाँ फूट निकलती हैं। कलाकार अपने परिवेश की व्यवस्थाओं और गतिविधियों के खिलाफ अपना विद्रोह कला द्वारा जाहिर करता है तथा सामाजिक शक्तियों से इनकी टकराहट प्रारंभ होती है। यह टकराहट कलाकार के आत्म प्रकाशन में बाधा उत्पन्न करती है।

प्रस्तुत नाटकों और उपन्यासों के सारे के सारे कलाकारों की किसी न किसी प्रकार मौजूदा व्यवस्था से टकराहट होती है। कलागत ईमानदारी को चरम मूल्य मानकर सृजनरत होने वाले कलाकार को हर युग में व्यवस्था या सत्ता से तीव्र संकट झेलना पड़ा है। बर्बर युग से लेकर इस

इक्कीसवीं शताब्दी तक, कलाकार की दिमागी हत्या के उपलक्ष्य में अमानवीय सत्ता की काली करतूतें चल रही हैं और सत्ता निरंतर षड्यंत्ररत् है। यहाँ कलाकार राजसत्ता की क्रूरता, गुण्डागर्दी धार्मिक ठेकेदारों और आर्थिक माफियाओं के अत्याचार का शिकार बनते दिखाई पड़ते हैं। सत्ताधिकारियों के नाम, पद और चेहरे ही बदलते रहते हैं, उनके चरित्र वही चालुक्य का, संदीपन का, चन्द्रगुप्त का, कोतवाल का, सत्यदर्शन का, पंडितों के जैसे हैं।

कलाकार किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करता है। वह तो वैसे ही कलाकृति का निर्माण करता है जैसा उनकी आत्मा चाहती है। उसकी दृष्टि में कला के स्तर पर समझौता करने से बेहतर है मृत्यु का वरण। इसीलिए ही उन्हें बार-बार अपमान सहना पड़ता है, बिलबिला जाते हैं, निराश और उदास भी हो जाते हैं, लेकिन हार न मानने का अदम्य हठ उनके भीतर दृढ़ होता है। व्यवस्था की भयावह सच्चाई के बीच में भी अपनी कलात्मकता और कलाहृदय को अटल बनाए रखने की जद्दोजहद प्रयास इन कलाकारों में होता है। आठवाँ सर्ग का कालिदास अपनी कृति को बीच में छोड़ देने के लिए मजबूर होने पर भी सत्ता के सामने समझौता करने के लिए तैयार नहीं होता है। कबीर, तुकाराम, तुलसी, तिन्दुबुलम आदि अनेक कठिनाईयों का सामना करते हुए भी मानवीय चेतना से अनुप्रेरित रहे। धर्म प्रतिनिधियों द्वारा कलासाधना में बाधा लगाने पर भी मेघनाथ ने निर्भीकता से आगे बढ़ा। भिखारी ठाकुर ने एक कलाकार के

साथ नाई जाति में जन्म लेने के नाते कई प्रतिबंधों का सामना करते हुए आगे बढ़ा, शेखर तीष्ण आर्थिक अभाव में भी कलागत ईमानदारी को नष्ट करना न चाहता है तथा परिस्थितियों के प्रभाव में पड़कर व्यवस्था से समझौता करने के लिए भी तैयार नहीं होता है।

इन कलाकारों के निजी जीवन की ऐसी परेशानियाँ मात्र उनकी अपनी परेशानियाँ नहीं। विश्व साहित्य और कला का इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अनेक मशहूर कलाकारों एवं साहित्यकारों ने अपनी कलासाधना के लिए मज़दूरी की है, आखिरी साँस तक ऋण बोझ से कमर झुकाये रहे हैं, विभिन्न देशों के तानाशाहों से लोहा लिया है, उनके कोप का भाजन बने हैं और अंततः देश छोड़ने को बाध्य होना भी पड़ा है।

परिस्थितियों के दबाव में पड़कर व्यवस्था से समझौता करने पड़े कलाकारों को कभी भी सुख सुविधा और तृप्ति नहीं मिली है। हानूश सत्ता के भय से अपनी कला साधना को उनके सामने समर्पित करते हैं तो राजा की स्वार्थता उन्हें दोनों आँखों से महरूम किया जाता है। इन्ना, सत्ता के प्रलोभन में पड़कर अपनी मानवीयता और मीठी आवाज़ से प्रतारित होते हैं। कालिदास राज सुविधा में भी राजकाज और भावुकता के बीच में पड़कर अधिक आंतरिक द्वंद्व झेलते हैं। अनादि आर्थिक व्यवस्था से समझौता करके कलागत ईमानदारी से नीचे गिरते हैं। प्रकाश और सुनील इन्हीं

आर्थिक अभाव के कारण प्रकाशक वर्ग से समझौता करते हुए उनके शोषण का शिकार बनते हैं।

कलाकार मानवीयता एवं मानव मूल्यों का संरक्षक ठहरता है। इसीलिए ही उनकी सृजनात्मकता इससे अनुप्रेरित रहती है। कोणार्क का धर्मपद ऐसे व्यक्तित्व का प्रतीक है। जन्म से ही अपमान एवं कठिन जीवन यथार्थ से जूझते हुए भी मानवीयता के प्रतिरूप के रूप में उसे हम देख सकते हैं। अभूक्तमूल नक्षत्र में जन्म लेने के कारण पिता द्वारा त्याग किए गए तुलसी, विधवा ब्राह्मिणी द्वारा त्याग किए गए कबीर आदि जन्म से ही कठिन जीवन यथार्थ का सामना करते हुए भी उनके मन में समाज के प्रति घृणा और विद्वेष जन्म न लेते हैं। बल्कि जीवन को विस्तार से देखने की दृष्टि उसमें पनपती है। कबीर, तुलसी, धर्मपद, तिन्दुवुलम सरीखे कलाकार मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन एवं सामाजिक जीवन में भ्रष्टाचार और आदर्शों की हत्या देखकर चुप नहीं रहे। वे मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए, सामाजिक जीवन में सुधार के लिए एवं आदर्शों की रक्षा के लिए बराबर जूझते रहे।

भूमण्डलीकरण के चकाचौंध में फँसे आधुनिक समाज में प्रेम, करुणा, हमदर्दी, परस्पर विश्वास, परम्परागत मूल्य आदि का अपहरण और सत्ताधिकारों द्वारा जनसाधारण का शोषण पहले से ही ज़्यादा बढ़ रहे हैं। यहाँ समस्याओं के एक विराट जाल में हम फँसे हुए हैं। हमारा सामाजिक

तथा सांस्कृतिक जीवन क्षतिग्रस्त हो रहा है तथा एक राष्ट्र के रूप में हमारे अपने अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगे हुए हैं। उग्र सांप्रदायिकता की आंधी चल रही है। धर्म के नाम पर घृणा, द्वेष और उन्माद का प्रचार हो रहा है। आज के ऐसे विषैले वातावरण में वर्ग, वर्ण, धर्म, समुदाय, जाति और नस्ल की दीवारों को ढहाती हुई इंसानियत और इंसानी संस्कृति का झंडा फहराने वाले कबीर, परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ने एवं नए मूल्यों की स्थापना करने का दृढ़ संकल्प लेकर निरंकुश धार्मिक आचार्यों की धर्माधता के खिलाफ विद्रोह करने वाले तिन्दुलम, सत्ता के अमानवीय व्यवहार एवं शोषण के खिलाफ निर्भीक होकर आवाज़ उठाने वाले धर्मपद जैसे विद्रोही व्यक्तित्वों की सख्त ज़रूरत है।

इन नाटकों और उपन्यासों में अभिव्यक्त पाँचवीं शताब्दी के संस्कृत कवि कालिदास, दसवीं शताब्दी के चन्द्रत्रेय वंश का चंदेल राजा यशोवर्मन के शासन काल का शिल्पी मेघराज, ग्यारहवीं शताब्दी के कोणार्क मंदिर के शिल्पी विशु और धर्मपद, तेरहवीं शताब्दी का कवि जयदेव, मध्यकालीन परिवेश के कबीर एवं तुलसी, पंद्रहवीं शताब्दी के चेक लोहार हानूश, सोलहवीं शताब्दी का मराठी कवि तुकाराम, अठारहवीं सदी के अंतिम दशक का कलाकार नरसिंह राव, उन्नीसवीं सदी के भारतेन्दु एवं मिर्जा ग़ालिब, बीसवीं सदी के भिखारी ठाकुर और समकालीन संदर्भ के सुनील, वर्षा, हर्ष, इन्ना, प्रकाश, शेखर, अनादी, मल्लिनाग आदि सभी कलाकार सृजनात्मकता के भिन्न-भिन्न क्षेत्र के हैं और भिन्न-भिन्न समस्याओं से गुज़र

रहे हैं। उनकी प्रेरणाएँ, संवेदनाएँ, अभिव्यक्ति एवं समस्याएँ सब एक समान धरातल पर आकर खड़ी हो जाती हैं। अब काल, देश और भाषा की सीमा से परे एक सत्य यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार की सृजनात्मकता और इनसे संबंधित समस्याएँ चिरंतन हैं।

संदर्भ ग्रंथसूची



आधार ग्रंथ

(अ) नाटक

- [1]. अभंग गाथा नरेन्द्र मोहन
जगताराम एंड सन्ज
दरियागंज, नई दिल्ली
संस्करण - 2000
- [2]. आठवाँ सर्ग सुरेन्द्र वर्मा
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
दरियागंज, नई दिल्ली
सातवीं आवृत्ति - 1999
- [3]. आषाढ का एक दिन मोहन राकेश
राजपाल एंड सन्ज
कश्मीरी गेट, दिल्ली
संस्करण - 2000
- [4]. इकतारे की आँख मणि मधुकर
सरस्वती विहार
शाहदरा, दिल्ली
प्रथम संस्करण 1980
- [5]. इन्ना की आवाज़ असगर वजाहत
पाँच नाटक
प्रेम प्रकाशन मंदिर
बल्ली मारान, दिल्ली
प्रथम संस्करण 1990

- [6]. कबिरा खड़ा बाज़ार में भीष्म साहनी
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली
आवृत्ति : छठी 1999
- [7]. कहै कबीर सुनो भाई साधो नरेन्द्र मोहन
पराग प्रकाशन
शाहदरा, दिल्ली
प्रथम संस्करण 1988
- [8]. कैद-ए-हयात सुरेन्द्र वर्मा
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
दरियागंज, नई दिल्ली
पहला संस्करण 1993
- [9]. कोणार्क जगदीशचन्द्र माथुर
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
दरियागंज, नई दिल्ली
पहला संस्करण 1951
- [10]. खजुराहो का शिल्पी शंकर शेष
अनादी प्रकाशन
कटरा, इलाहाबाद
पहला संस्करण 1972
- [11]. छाया हरिकृष्ण प्रेमी
आत्माराम एंड सन्ज
कश्मीरी गेट, दिल्ली
चतुर्थ संस्करण – 1958

- [12]. तिन्दुवुलम
लक्ष्मीकांत वर्मा
किताब महल
इलाहाबाद
कश्मीरी गेट, दिल्ली
संस्करण – 1958
- [13]. मूर्तिकार
शंकर शेष
शंकर शेष रचनावली
किताबघर,
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1990
- [14]. रति का कंगन
सुरेन्द्र वर्मा
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2011
- [15]. शारदीया
जगदीशचन्द्र माथुर
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
दरियागंज, नई दिल्ली
- [16]. हानूश
भीष्म साहनी
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली
पाँचवीं आवृत्ति : 2003

(आ) उपन्यास

- [1]. कठपुतली देवेन्द्र सत्यार्थी
आकाशदीप पब्लिकेशन्स
महरौली, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1997
- [2]. भारती का सपूत रांगेय राघव
राजपाल एंड सन्ज
कश्मीरी गेट, दिल्ली
संस्करण – 2002
- [3]. मानस का हंस अमृतलाल नागर
राजपाल एंड सन्ज
कश्मीरी गेट, दिल्ली
संस्करण – 1983
- [4]. मुझे चाँद चाहिए सुरेन्द्र वर्मा
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
दरियागंज, नई दिल्ली
सातवाँ संस्करण 1998
- [5]. सूत्रधार संजीव
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
जगतपुरी, नई दिल्ली
पहली आवृत्ति 2004

सहायक ग्रंथ

- [1]. अपने अपने अजनबी अज्ञेय
भारतीय ज्ञान पीठ
लोदी रोड
नई दिल्ली
तेईसवा संस्करण 2011
- [2]. अमृतलाल नागर के जीवनीपरक उपन्यास सुरेखा एम. साठे
अमन प्रकाशन
प्रथम संस्करण 1996
- [3]. आत्मनेपद अज्ञेय
भारतीय ज्ञान पीठ
काशी
संस्करण 1960
- [4]. आत्मपरक अज्ञेय
भारतीय ज्ञान पीठ
नई दिल्ली
संस्करण 1983
- [5]. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक एवं आर्थिक चेतना डॉ पीताम्बर सरौदे
अतुल प्रकाशन
कानपुर
प्रथम संस्करण 1987
- [6]. आधुनिक हिन्दी कवियों और लेखकों के काव्य सिद्धांत डॉ सुधाकर/डॉ अंजुलता (सं)
विकास प्रकाशन
कानपुर
प्रथम संस्करण 1990

- [7]. आधुनिक हिन्दी नाटकों में संघर्ष तत्व डॉ सा.का. गायकवाड़
पुस्तक संस्थान
कानपुर
प्रथम संस्करण 1975
- [8]. उपन्यासकार अमृतलाल नागर डॉ के. जी. राजेन्द्र प्रसाद
जवाहर पुस्तकालय
मथुरा
प्रथम संस्करण 2009
- [9]. उपन्यास समय और संवेदना विजय बहादुर सिंह
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
संस्करण 2007
- [10]. ऋग्वेद विश्वबंधु (सं)
वेदिक रिसर्च इंस्टिट्यूट
पंजाब
संस्करण 1964
- [11]. कथाकार अमृतलाल नागर देवेन्द्र चौबे
जगत राम एंड सन्ज
दिल्ली
प्रथम संस्करण 1994
- [12]. कलाओं की मूल्य दृष्टि हेमंत शेष (सं)
वाणी प्रकाशन
प्रथम संस्करण 2009
- [13]. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ रामचंद्र शुक्ल
हिन्दी समिति
लखनऊ
संस्करण 1963

- [14]. कला और साहित्य गोवर्द्धन शर्मा
ज्ञानलोक प्रकाशन
अमरावती
प्रथम संस्करण 1959
- [15]. कला और सामाजिक जीवन जार्जी प्लेखनोव
डॉ माहेश्वर (अनु)
अप्रतिम प्रकाशन
सादरपुर दिल्ली
प्रथम संस्करण 1994
- [16]. कला और सौंदर्य डॉ सुरेश बारलिंग
विभूति प्रकाशन
नवीन शाहदरा
दिल्ली
प्रथम संस्करण 1988
- [17]. कला का जोखिम निर्मल वर्मा
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1981
- [18]. कला का रास्ता विनोद भारद्वाज
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2011
- [19]. कलाकार का व्यक्तित्व और काव्य में उसकी अभिव्यक्ति ज्ञान प्रकाशन
दरिया गंज
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1990

- [20]. कलाकार का सत्य विष्णु प्रभाकर
किताबघर प्रकाशन
दिल्ली
प्रथम संस्करण 1991
- [21]. कला के सरोकार रामानंद राठी
रचना प्रकाशन
जयपूर
- [22]. कला क्या है: ताल्लस्ताय इन्दुकांत शुक्ल (रूपांतकार)
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
बनारस
प्रथम संस्करण 1955
- [23]. कार्ल मार्क्स : कला और साहित्य चिंतन गोरख पाण्डेय (अनु)
नामवर सिंह (सं)
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1991
- [24]. कला विवेचन कुमार विमल
भारती भवन
पटना
प्रथम संस्करण 1968
- [25]. कला : साहित्य और संस्कृति इ..एस. नाम्बुतिरिपाडू
अनु. शशिबाला शर्मा
अरुणोदय प्रकाशन
संस्करण 1992
- [26]. काव्य और कल्पना राम खेलावन पाण्डेय
भारती भवन
पटना
द्वितीय संस्करण 1969

- [27]. कुछ विचार
प्रेमचंद
संस्कृति प्रेस
दिल्ली
संस्करण 1965
- [28]. कुँवर नारायण डायरी के पन्नों से यतीन्द्र मिश्र (सं)
कला का सौन्दर्य (साहित्य तथा अन्य वाणी प्रकाशन
कलाएँ) खण्ड I नई दिल्ली
संस्करण 2012
- [29]. कोणार्क रंग और संवेदना
डॉ नरनारायण राय
कादम्बरी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1987
- [30]. चंदोग्योपनिषद – दिपीका
श्री सयनाचार्य
सतगुरु गणगणेश्वारा
इंटरनेशनल वेदा मिशन
बंबई
संस्करण 1989
- [31]. चिंतामणि I
रामचंद्र शुक्ल
इन्डियन प्रेस प्र. लि.
प्रयाग
दूसरा संस्करण 1950
- [32]. चिंतामणि II
रामचंद्र शुक्ल
राजकमल प्रकाशन प्र. लि.
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1983

- [33]. डॉ जगदीश चन्द्र माथुर के नाटकों में
एतिहासिक एवं पौराणिक तत्व और
युगीन संदर्भ
डॉ मनोजकुमार आर. पटेल
दर्पण प्रकाशन
नडियाद
संस्करण 2005
- [34]. डॉ शंकर शेष के प्रमुख नाटकों में
व्यक्त सामाजिक चेतना
डॉकविता पटेल
शांति प्रकाशन
प्रथम संस्करण 2007
- [35]. दर्शन, साहित्य और समाज
शिवकुमार मिश्र
वाणी प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली
संस्करण 2000
- [36]. धर्म और सांप्रदायिकता
नरेन्द्र मोहन
प्रभात प्रकाशन
दिल्ली
प्रथम संस्करण 2006
- [37]. धर्म का मर्म
अखिलेश मिश्र
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2003
- [38]. धर्म की अवधारणा
डॉ देवमुनि शुक्ल
प्रकाशन संस्थान
दरिया गंज
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2005

- [39]. नया हिन्दी नाटक डॉ भानुदेव शुक्ल
जयभारती प्रकाशन
इलाहबाद
प्रथम संस्करण 1993
- [40]. नरेन्द्र मोहन का नाट्य संसार डॉ शेख आर. वाय
अतुल प्रकाशन
यशोदरा नगर
कानपुर
प्रथम संस्करण 2010
- [41]. नाटककार जगदीश चन्द्र माथुर गोविन्द चातक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
दरियागंज, नई दिल्ली
- [42]. नाटककार नरेन्द्र मोहन डॉ शिवाजी देवरे
शैलजा प्रकाशन
यशोदरा नगर
कानपुर
- [43]. नाट्य शास्त्र भरतमुनि
- [44]. नाट्य शास्त्र (व्याख्या) बाबूलाल शुक्ल शास्त्री
- [45]. परिवेश मोहन राकेश
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
कलकत्ता
प्रथम संस्करण 1967
- [46]. परिवेश की चुनौतियाँ और साहित्य हेतु भारद्वाज
पंचशील प्रकाशन
जयपुर
प्रथम संस्करण 1984

- [47]. पाश्चात्य समीक्षा और समीक्षक शेखर शर्मा/हरवंशलाल शर्मा
प्रासंगिक पब्लिशर्स एंड
डिस्ट्रिब्यूटर्स
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2008
- [48]. पाश्चात्य साहित्यालोचन और पर डॉ रविन्द्र सहाय वर्मा
उसका प्रभाव विश्वविद्यालय प्रकाशन
वाराणासी
प्रथम संस्करण 1967
- [49]. प्रबंध प्रतिभा सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
संस्करण 1960
- [50]. प्रतिभा और सर्जनात्मकता सुरेन्द्र नाथ त्रिपाठी
दी मैकमिलन कंपनी आफ
इण्डिया लिमिटेड
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1980
- [51]. फूल नहीं, रंग बोलते हैं केदारनाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन
इलाहाबाद
दूसरा संस्करण 1977
- [52]. मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन : के देवेन्द्र नाथ शर्मा (अनु)
अहमद भारती भवन
पटना
प्रथम संस्करण 1969

- [53]. मेरे साक्षात्कार कमलेश्वर
किताबघर प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
संस्करण 2008
- [54]. मेरे साक्षात्कार निर्मल वर्मा
किताबघर प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1999
- [55]. मेरे साक्षात्कार नागार्जुन
किताबघर प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1994
- [56]. मेरे साक्षात्कार रामविलास शर्मा
किताबघर प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1994
- [57]. मेरे साक्षात्कार विष्णु प्रभाकर
किताबघर प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1995
- [58]. यातना, संघर्ष ---- स्वप्न अजय नावरिया (सं)
किताबघर प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2010
- [59]. रचना और राजनीति प्रेमशंकर
वाणी प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1999

- [60]. रचना धार्मिता और मूल्य बाँध डॉ वेदप्रकाश अमिताभ
जवाहर पुस्तकालय
मथुरा
प्रथम संस्करण
- [61]. रघुवीर सहाय रचनावली सुरेश शर्मा (सं)
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2000
- [62]. रांगेय राघव के उपन्यासों का डॉ सुधाकर उपाध्याय
अनुशीलन बांके बिहारी प्रकाशन
आगरा
प्रथम संस्करण 2010
- [63]. रांगेय राघव के जीवनी परक डॉ नवनीत आर ठक्कर
उपन्यास शांति प्रकाशन
हरियाणा
प्रथम संस्करण 1990
- [64]. लेखक की साहित्यिकी नंदकिशोर आचार्य
वाणी प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2008
- [65]. विचार के क्षण डॉ विजयेन्द्र स्त्रातक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली
प्रथम संस्करण 1970
- [66]. शंकर शेष के नाटकों में संघर्ष चेतना हेमंत कुकरेती
आर्य प्रकाशन मंडल
दिल्ली
प्रथम संस्करण 2009

- [67]. समकालीन उपन्यासों में राजनैतिक चित्रण डॉ सुकुमार भंडारे
विकास प्रकाशन
प्रथम संस्करण 2007
- [68]. समकालीन हिन्दी कविता : अज्ञेय और मुक्तिबोध डॉ शशि शर्मा
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 1995
- [69]. समकालीन हिन्दी नाटक और संगमंच डॉ नरेन्द्र मोहन(सं)
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2009
- [70]. समाज विज्ञान के मूलतत्व पी.सी. खरे
जयभारती प्रकाशन
इलाहबाद
प्रथम संस्करण 1998-99
- [71]. साठ वर्ष और अन्य निबंध सुमित्रानंदन पंत
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि.
नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण 1989
- [72]. साठोत्तर हिन्दी नाटक के. वी. नारायण कुरुप
लोक भारती प्रकाशन
प्रथम संस्करण 2007
- [73]. साठोत्तर हिन्दी नाटक नीलम राठी
संजय प्रकाशन
प्रथम संस्करण 2001

- [74]. सांप्रदायिकता का जहर
डॉ रणजीत (सं)
मानवीय समाज प्रकाशन
इलाहबाद
प्रथम संस्करण 2010
- [75]. साहित्य और संस्कृति
मोहन राकेश
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
दरियागंज, नई दिल्ली
आवृत्ति – 1990
- [76]. साहित्य और जनसंघर्ष
शंभुनाथ
संभावना प्रकाशन
हापुड
प्रथम संस्करण 1986
- [77]. साहित्य और सामाजिक मूल्य
डॉ हरदयाल
विभूति प्रकाशन
दिल्ली
प्रथम संस्करण 1985
- [78]. साहित्य का श्रेय और प्रेय
जैनेन्द्र कुमार
पूर्वादय प्रकाशन
दिल्ली
तृतीय संस्करण 1976
- [79]. साहित्य की सामाजिकता
मिथिलेश्वर
शिल्पायन
दिल्ली
प्रथम संस्करण 2005
- [80]. साहित्य सर्जना
इलाचन्द्र जोशी
छात्र हितकारी पुस्तकालय
दारागंज, प्रयाग
पाँचवा संस्करण 1949

- [81]. साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद कुंवरपाल सिंह (सं)
पीफल्स लिटेरसी
दिल्ली
प्रथम संस्करण 1985
- [82]. साहित्य साधना और संघर्ष रणवीर रांग्रा (सं)
भारती साहित्य मंदिर
दिल्ली
प्रथम संस्करण 1965
- [83]. साहित्यिक डॉ रांगेय राघव डॉ गीता पूजारी
अमन प्रकाशन
कानपुर
प्रथम संस्करण 1995
- [84]. सिद्धांत और अध्ययन डॉ गुलाब राय
आत्माराम एंड सन्ज
दिल्ली
प्रथम संस्करण 1927
- [85]. सृजन एवं समीक्षा प्रो. गिरीश महाजन/ डॉ भाऊ
साहब परदेशी
चन्द्र लोक प्रकाशन
कानपुर
प्रथम संस्करण 1999
- [86]. सृजन की मनोभूमि डॉ रणवीर रांग्रा
वाणी प्रकाशन
कमला नगर दिल्ली
प्रथम संस्करण 1965

- [87]. सुरेन्द्र वर्मा के नाटक द्वंद्व के संदर्भ में) डॉ पूनम राठी
ज्योति इन्टर प्राईज़िज़
जवाहर नगर, दिल्ली
प्रथम संस्करण 2009
- [88]. सौन्दर्य शास्त्र के प्रश्न हेमंत शेष (सं)
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2001
- [89]. हिन्दी उपन्यास का इतिहास प्रो. गोपाल राय
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2002
- [90]. हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास डॉ पारुकांत देसाई
परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास चिंतन प्रकाशन
कानपुर
प्रथम संस्करण 2002
- [91]. हिन्दी नाटक आज-कल डॉ जयदेव तनेजा
तक्ष शिला प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण 2010
- [92]. हिन्दी नाट्य इतिहास के सोपान गोविन्द चातक
तक्षशिला प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण 2002
- [93]. हिन्दी नाटक का आत्म संघर्ष गिरीश रस्तोगी
लोक भारती प्रकाशन
प्रथम संस्करण 2002

मलयालम सहायक ग्रंथ सूची

- [1]. Kanvazhikal Kazhchavattangal Sunil P. Ilayidam
Current Books
Kottayam, Kerala
2003
- [2]. Oru Sankeerthanam pole Perumpadavam
Sreedharan
National Book Stall
Kottayam
1993

अंग्रेजी सहायक ग्रंथ सूची

- [1]. Collected works of Aristotle
Aristotle
Prenceton University Press, 2005
Oxford Translations
- [2]. Collected works of Plato
Plato
Prenceton University Press, 2005
Plato including letters
- [3]. Economic and Philosophic Manuscripts of 1844
Karl Marx
Foreign Languages Publishing House
Moscow, 1961
- [4]. Illusion and Reality
Christopher Caudwell
International Publishers, New York, 1937
- [5]. Introductory lectures on Psychoanalysis
Sigmond Freud
Tr by James Strachey
Liveright Publishing Corporation, New York 1989

- [6]. Literature and Psychology F L Lucas
University of Michigan Press
Ann Arbor, 1957.
- [7]. On Literature and Art, Ed 3 V I Lenin
Progress Publishers, Mosow, 1967
- [8]. The Picture of Dorian Gray Oscar Wilde
Ward Lock and Company,
London, 1891
- [9]. The Rebel: an essay on Man in revolt Albert Camus
Rev and Tr by Anthony Bower
Vintage, New York, 1991
- [10] What is Art? Leo Tolstoy
Tr by Aylmer Maude
Funk and Wagnalls Compay, New York ,1904.
- [11] Art Clive Bell
Accessed from the web site
<http://www.gutenberg.org/files/16917/16917-h/16917-h.htm> on
25.10.2012.

पत्र-पत्रिकाएँ

- [1]. आजकल अगस्त 1979
नवंबर 1982
जनवरी, मई, जून 1983
- [2]. आलोचना जुलाई-सितंबर 1967
अप्रैल-सितंबर 2004
अक्तूबर-सितंबर 2004
अक्तूबर-दिसंबर 2009

- [3]. कृति ओर जुलाई-सितंबर 2004
जनवरी-मार्च 2005
- [4]. गगनाञ्चल अप्रैल-जून 2004
- [5]. गगनाञ्चल जुलाई-सितंबर 1996
अक्तूबर-दिसंबर 1996
- [6]. दस्तावेज़ जनवरी-मार्च 2003
- [7]. नई धारा जून-जुलाई 1994,1995
दिसंबर 1996
जनवरी 1997
अप्रैल-मई 2012
- [8]. पक्षधर जनवरी-अप्रैल 2008
- [9]. भाषा जनवरी-फरवरी 2003
नवंबर- दिसंबर 2011
- [10]. मधुमति जून-अगस्त 1994
अप्रैल 1996
जुलाई 1998
अगस्त 2001
मार्च 2011
- [11]. माध्यम जनवरी-मार्च 2006,2007
जुलाई-सितंबर 2007
- [12]. रंग प्रसंग अप्रैल-जून 2006
जनवरी-मार्च 2007
अप्रैल-जून 2007
- [13]. वागर्थ जनवरी 2001

- [14]. संचेतना
मार्च 1997
जून 1998
मार्च 2000, 2001
मई 2003
- [15]. समीक्षा
जनवरी-मार्च 1991
अप्रैल-जून 1993,1994
- [16]. साक्षात्कार
जुलाई-सितंबर 1987
जनवरी 2006
फरवरी 2006
- [17]. हँस
अप्रैल 1932
जनवरी 2005,2007,2008
मई 2007
- [18]. ज्ञानोदय
अक्तूबर 1968
- मलयालम पत्रिकाएँ
- [1]. Kairaliyude kakka
October 2013
- [2]. Bhashaposhini
April-May 1992
December 1992
January 1993

परिशिष्ट

शोध छात्रा के प्रकाशित शोध लेख

1. त्रिलोचन की कविता : संघर्षशील वर्ग की अभिव्यक्ति, अनुशीलन - त्रिलोचन विशेषांक, जुलाई 2009.
2. परम्परा और आधुनिकता का संस्कार : 'असाध्य वीणा', अनुशीलन - अज्ञेय विशेषांक, जुलाई 2011. ISSN : 2449-2844.

.....१०२२.....